समर्पण

स्वर्गीय

लाल राजबहादुर सिंह

की

स्मृति में ।

दो शब्द

हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक श्रीयुत पदुम लाल पुन्नालाल बख़्शी की 'पञ्च-पात्र' नामक पुस्तक हिन्दी-साहित्य मर्मज्ञों की सेवा में उपस्थित कर सकने का यह सुअवसर साहित्य-भवन लिमिटेड को प्राप्त हुआ है।

'साहित्य-भवन' लिमिटेड के लिए यह बड़े गौरव की बात है। बख़्शी जी के सम्बन्ध में इस जगह कुछ कहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनकी विद्वत्ता, उनकी रचना-कुशलता और उनकी विचार-गम्भीरता से हिन्दी संसार भली भाँति परिचित है। 'पञ्च-पात्र' में बख़्शी जी की सरस रचनाओं के नमूने संग्रहीत हैं।

पञ्च-पात्र में, जैसा उनके नाम से ही प्रगट हो जाता है, पाँच अङ्ग हैं— पहले में पद्य, दूसरे में आख्यायिका, तीसरे में साहित्य, चौथे में समाज-समस्या और पाँचवें में संकट या पञ्चरात्र है। बख़्शी जी कवि हैं और उच्चकोटि के समालोचक, साहित्य मर्मज्ञ और समाज-तत्त्व के ज्ञाता हैं। वे जिस कुशलता से सामाजिक विषयों की विवेचना कर सकते हैं उसी कुशलता से गम्भीर विषयों पर सरस संलाप भी लिख सकते हैं।

'पञ्च-पात्र' में बख़्शी जी की सर्वतोमुखी रचना-शक्ति का परिचय देने के लिए, मेरी राय में उनके लेखों का यह सुन्दर संग्रह किया गया है। जहाँ एक ओर इस पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बख़्शी जी भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे साहित्य में नवीन स्फूर्ति, नवीन जीवन, निर्मित करने की उनमें योग्यता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि 'पञ्च-पात्र' के प्रचार से बख़्शी जी के प्रति हिन्दी संसार में श्रद्धा की और भी अधिक वृद्धि होगी।

जो हिन्दी-प्रेमी चाहते हैं कि हिन्दी भाषा में निरन्तर ऐसे साहित्य का निर्म्माण हो जिससे कि शीघ्र ही हिन्दी साहित्य भी संसार के समुन्नत साहित्यों में गिना जाने लगे उन्हें बख़्शी जी का यह पञ्च-पात्र देखकर अवश्य सन्तोष होगा।

ब्रजराज
एम० ए० बी० एस० सी
एल० एल० बी
भूतपूर्व-मन्त्री, साहित्य भवन
लिमिटेड

प्रयाग
आश्विन कृष्ण दशमी
संवत् १९८४

———

पद्य

१—पदार्पण

तमोमय था सारा संसार,
आगये कैसे करुणागार ?
तड़ित करती थी उग्र विलास,
मेघ देता था सब को त्रास,
प्रकृति लेती थी दारुण श्वास,
जगत करता था हाहाकार,
आगये कैसे करुणागार ॥ १ ॥

नदी बहती कर गर्जन घोर,
प्रबल मारुत देता झकझोर,
तरङ्गें लेतीं चण्ड हिलोर,
हुए तम में तुम कैसे पार,
आगये कैसे करुणागार ॥ २ ॥

नहीं यह गगनस्पर्शी धाम,
दीप्तिमय रत्नों से अभिराम,
जहाँ प्रभु ले सकते विश्राम,
दैन्य-दुःख छाया यहाँ अपार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ३ ॥

रुद्ध था कारागृह का द्वार ,
हृदय में लेकर चिन्ता-भार ,
वहाँ बैठा था किसी प्रकार ,
जहाँ था नहीं वायु-संचार ,
आगये कैसे करुणागार ॥ ४ ॥

तुम्हारा सहसा हुआ प्रवेश ,
देखकर अपना कुत्सित भेष ,
मुझे अब होता है अति क्लेश ,
नाथ, यह तो है अत्याचार ,
आगये कैसे करुणागार ॥ ५ ॥

२—निशा-काल

हुआ जीवन का संध्या-काल ।
फैलने लगा तमिस्रा-जाल ॥
क्रीड़ा करती थी भू-तल पर ,
हुई ज्योति वह क्षीण ।
अन्त-हीन विस्तृत था सागर ,
उसमें हुई विलीन ॥
जगत का बन्द हुआ व्यापार ।
किया तुम ने उसका संहार ॥
भय-विह्वल हो जग ने सोचा ,
अब क्या होगा हाल ।
क्षण क्षण बढ़ती ही जाती है ,
यह छाया विकराल ॥
हृदय में फैला यह आतङ्क ।
चराचर सब हो गये सशङ्क ॥
उदित निशाकर हुआ गगन में ,
चौंक पड़ा संसार ।
अपनी विमल ज्योति से उसने,
किया सुधा-सञ्चार ॥
प्रभा उसकी तो थी निष्पाप ।
नहीं था उसमें वह उत्ताप ॥
उसकी शीतल छाया में ही
दूर हो गया त्रास ।
तम में लुप्त सुधाकर है
यह था किसको विश्वास ॥

३—कृषक

राज्य उसका है यह कान्तार।
वहीं वह करता सदा विहार ॥
जरा जीर्ण, वैभव-विहीन
है उसका पर्ण-कुटीर।
किन्तु निरत उसकी सेवा में
रहता नित्य समीर ॥

सूर्य करता उसका श्रृङ्गार।
करों से रञ्जित करता द्वार ॥
जब मध्याह्न-काल में
रवि का होता उग्र प्रताप।
तब उसका श्रम हर लेती है
तरु-छाया निष्पाप ॥

विश्व का है उस पर ही भार।
तभी अक्षय उसका भाण्डार ॥
निशा-काल में पृथ्वी उसको
देती अपना अङ्क।
फैलाता अनन्त नभ अञ्चल,
सोता वह निश्शङ्क ॥

चन्द्र करता अमृत-सञ्चार।
शान्ति का कर देता विस्तार ॥
ग्रीष्म-काल की ज्वाला हो
या जल का धारापात।
कभी शिथिल होता है उसका।
क्षण भर भी क्या गात ॥

जगत का करता वह उपकार।
जानता है क्या यह संसार॥

कर कर्तव्य पूर्ण वह
जग से जाता है चुपचाप।
मूढ़ जगत को दुख क्या होगा,
करती प्रकृति विलाप॥

अश्रुओं का यह अक्षय हार।
उसी का है अन्तिम उपहार॥

४—सार्थकता

नीच कुल में हो जिसका जन्म,
पङ्क से हो जिसकी उत्पत्ति।
सत्य, यदि हो पङ्कज श्री-धाम,
तुम्हारी ही है इसमें शक्ति ॥ १ ॥
तुम्हीं से पाया वह अनुराग,
हुआ जिससे अतिरञ्जित पद्म।
तुम्हारे ही कर का था स्पर्श,
किया आमोदित जिसने सद्म ॥ २ ॥

तुम्हारा ही मधुमय उपहार,
हुआ है उसके अन्तर्लीन।
नहीं उसकी अपनी कुछ वस्तु,
जन्म से ही वह तो है दीन ॥ ३ ॥
उच्च पद देकर महिमा-वृद्धि,
तुम्हीं ने उसकी की है आज।
नीच पद में उसको क्या हानि;
तिरस्कृत होने में क्या लाज ॥ ४ ॥

हृदय पर जब तक उसका स्थान,
हरेगा ही वह अन्तस्ताप।
दलित होकर भी निस्सङ्कोच,
करेगा सुरभित पद चुप चाप ॥ ५ ॥
उसे आदर से होगा हर्ष,
निरादर से भी है सन्तोष।
सत्य, है उसका यही स्वभाव,
अन्य हों चाहे कितने दोष ॥ ६ ॥

५—रहस्य

अन्धकार में दीप जलाकर
किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो, तब फिर
क्यों तुम ऐसा दम भरते हो ॥

हाहाकार जगत करता है,
तो भी उससे क्या होता है।
पवन अहर्निशि शान्त नहीं है,
वह निश्चिन्त सदा सोता है ॥

नभ में ये नक्षत्र आज तक
घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है, किसको
होगा यह रहस्य उद्‌घाटन ॥

हम हैं क्षुद्र, जानते हैं हम,
जग में हमको सब हँसते हैं।
पर तम में वह श्याम-रूप हैं,
जिसकी आशा में मरते हैं ॥

निराकार गुण-दोष-रहित वह
फैला है सर्वत्र व्याप्त कर।
उसके ही आश्रय में सब को
मिल जाती है शान्ति मनोहर ॥

६—अनुरोध

प्रभो तुम कब होगे गुणवान।
निर्गुण ही तुमको कहते हैं
जग के सब विद्वान्॥

भले-बुरे का ज्ञान नहीं है,
नीचों की पहचान नहीं है,
तुम में कुछ अभिमान नहीं है,
सब में एक समान॥

निराकार हो रूप छिपाते,
अन्तर्यामी होकर आते।
सम्मुख होने में भय पाते,
तुम हो नाथ महान॥

विश्वम्भर तुमको सब कहते,
लक्ष्मी-पति भी बनकर रहते।
फिर दीनों से स्नेह जोड़ते,
है इसमें अपमान॥

सबकी विनय यही है, प्रभुवर।
अपना माया-जाल तोड़ कर
एक बार इस अवनी तल पर
आओ, हे भगवान्॥

७–बुद्धदेव के प्रति

भगवन्, यह कैसी है रीति।
तुम हो यतिवर, ऐसी हमको
होती नहीं प्रतीति॥

कपिलवस्तु था क्षुद्र, हो गया
वह तो तुमको त्याज्य
किया प्रतिष्ठित अखिल विश्व में
आज अचल साम्राज्य॥

प्रणयी जन थे अल्प, छोड़ दी
तुमने उनकी प्रीति।
जोड़ लिया सम्बन्ध जगत से
यह क्या नहीं अनीति?

थी विरक्ति तो हुआ तुम्हारा
जग से क्यों अनुराग?
जग-सेवा कर सेव्य हो गये,
यह कैसा है त्याग?

छूट गये तुम भव-बन्धन से
यह केवल उपहास।
मानव-हृदय हुआ बन्दीगृह,
वहीं तुम्हारा वास॥

८—दीप-निर्वाण

किया रवि ने क्षण भर विश्राम,
चन्द्र को देकर अपना धाम।
नभो-देश में चन्द्र-कला का
होने लगा विनोद।
उसकी हास्य-प्रभा देखकर
बढ़ा सभी का मोद॥

कुटी थी कोई शोभा-हीन,
वहाँ चलता था दीप मलीन।
थे इतने नक्षत्र गगन में,
था सब में आलोक।
किन्तु कुटी का हर सकता था
केवल दीपक शोक॥

हुआ जब निशा-काल का अन्त,
आगये नभ में नलिनी-कन्त।
निष्प्रभ हुआ चन्द्रमा लज्जित
होकर किया प्रयाण।
थी कुटीर में क्षुद्र दीप की
ज्योति-शिखा म्रियमाण॥

बढ़ाकर जीवन किसी प्रकार,
किया रवि का उसने सत्कार।
प्राणों की आहुति से उसने,
किया जगत-कल्याण।
निकली एक मलिन रेखा ही,
हुआ दीप-निर्वाण॥

६—अन्त

किससे प्रेरित होकर मैं
आगे ही बढ़ती जाती हूँ।
क्षण भर भी रुक कर थोड़ी भी
चैन नहीं मैं पाती हूँ ॥

था जब तक उस गिरि का बन्धन,
व्याकुल रहता था मेरा मन।
यही सोचती थी मैं क्षण क्षण,
कब मैं बाहर आती हूँ ॥

छोड़ चुका मुझको जब गिरिवर;
आई नीचे उछल उछल कर,
करती रहती थी मैं झर झर,
अब क्या वैसा गाती हूँ ॥

मन में नहीं उमंग रही अब,
उठती है वैसी तरंग कब।
शिथिल हो गये आज अंग सब।
घोर निराशा पाती हूँ ॥

यह कैसा उठता भीषण रव!
अब क्या होगा हे मेरे भव?
यह क्या? तूही मेरा उद्भव,
तुझ में ही मैं जाती हूँ ॥

सुन्दर

१०—कृतघ्नता

चन्द्र हरता है
निशा की कालिमा,
हृदय की देता
उसे है लालिमा ॥

किन्तु होकर लोक-
निन्दा से अशङ्क,
निशा देती है
उसे अपना कलङ्क ॥

११—अविचार

सिन्धु रत्नागार है,
कौस्तुभ दिया तो क्या दिया।
किन्तु उसको आपने
अपना निवास बना लिया॥

पङ्क ने तो कमल ऐसा
रत्न अर्पण कर दिया।
हाय, उसको आपने
इतना मलिन कैसे किया॥

१२—सूखे फूल

तुम भी हो क्या मालाकार।
मेरे इन सूखे फूलों का
लोगे क्यों उपहार॥

तुमको तो ऐसे ही फूलों
से रहता है काम।
जिनके सौरभ से उपवन में
फैल गया है नाम॥

पर इसमें भी सच जानो
कुछ है रस का आगार।
होकर सब से दलित
करेगा सुरभित पाद-प्रहार॥

कोई निर्गुण होगा इनको
कर लेगा स्वीकार।
कर के स्पर्श-मात्र से होगा
यह सुगन्धि-भाण्डार॥

१३ - अज्ञात

कहाँ है नाथ तुम्हारा वास।
खोज फिरा सब देख लिया,
अब मैं हो गया हताश॥

मुझे व्यर्थ-श्रम देख जड़ प्रकृति
करती है उपहास।
पाया जिसका पता नहीं
वह रहता उसके पास॥

प्रातःकाल पवन लाती है
उसका कुछ सन्देश।
मूक प्रकृति को ही कह जाती
है उसका आदेश॥

क्षण भर में तब जड़ में हो
जाता चैतन्य-विकास।
वृक्षों पर विकसित फूलों का
होता हास-विलास॥

हँस हँस कर जल की तरङ्ग
करता सानन्द विहार।
मत्त खगों के कलरव से
भर जाता है संसार॥

फिर मध्याह्नकाल में सब के
सब हो जाते व्यग्र।
मैं बैठे देखा करता हूँ
उसका कार्य समग्र॥

आती है सन्ध्या तब उनका
फ़िर सजता है साज ।
नक्षत्रों के साथ गगन में
आते हैं द्विजराज ॥

तब किसकी उपासना में सब
हो जाते निस्तब्ध ।
निश्चल होती प्रकृति,
शान्ति सबको होती उपलब्ध ॥

१४—उपालम्भ

तुम निर्गुण हो, मैं गुणहीन।
तुम हो दीनबन्धु—मेरे
भी सब बान्धव हैं दीन॥

तुम हो निराकार,
मेरा भी यदि होता आकार।
तो पड़ जाती दृष्टि जगत् की,
अब तक किसी प्रकार॥

तुम अज्ञेय, तुम्हारी कोई
नहीं जानता बात।
सच कहता हूँ, नाथ,
सभी से मैं भी हूँ अज्ञात॥

तुम सर्वत्र व्याप्त हो,
मेरा है सर्वत्र निवास।
तुम निर्मम हो, तो मेरा भी
अब हो गया विनाश॥

देख लीजिए, प्रभो, नहीं है
हम दोनों में भेद।
तुम विश्वेश्वर, मैं याचक हूँ,
है इसका ही खेद॥

१५--पाप और पुण्य

सन्ध्या हुई, नभो-मण्डल में ,
तम का हुआ प्रसार ।
मैंने कहा, "पाप से होता ,
आवृत है संसार ।"

तब चन्द्रोदय हुआ, शीघ्र ही
तम हो गया विलीन ।
मैंने सोचा, "नष्ट तभी तो
होते सभी मलीन ।"

पर विश्वम्भर का क्या ऐसा
होता दया-विचार ?
वह करता है नाश, क्या नहीं
करता वह उद्धार ?

हुआ चन्द्र तब तक कुछ ऊपर,
पड़ी अचानक दृष्टि
तब मैंने देखी करुणानिधि
की अपूर्व वह सृष्टि ।

ज्योतिर्मय के वक्षस्थल में
करता था तम वास ।
पाप-लता में पुण्य-पुष्प का
कैसा हुआ विकास ।

१६—अञ्जलि दान

आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज।
क्षण भर में रवि हो गया अस्त,
तम से भूमण्डल हुआ ग्रस्त,
तब मैं पूजा में हुआ व्यस्त;
सोचा अब तो होगा अकाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

जीवन-पथ में था अन्धकार,
मन्दिर तक जाऊँ किस प्रकार,
मैं खड़ा हुआ करता विचार;
आगया वहाँ तब जन समाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

भय से मैं तो हो गया चकित,
मेरे कर से तब हुआ स्खलित,
सब के चरणों से हुआ दलित;
अब एक फूल है, उसे साज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

होगा क्या इससे तुम्हें तोष?
होगा क्या मुझ पर, प्रभो रोष?
यह है सब मेरा भाग्य-दोष;
पर, रख लो मेरी, नाथ, लाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

१७—अज्ञात का सत्कार

जीवन में उसका नहीं,
हुआ नाम विख्यात।
हुआ निहत रण-भूमि में,
यह भी किसको ज्ञात॥

क्षण भर भू को कर गया
रञ्जित उसका रक्त।
और नहीं कुछ दे सका
जननी को वह भक्त॥

जग की सेवा में दिया,
उसने अपना प्राण।
पर उसको जग से नहीं,
मिला अल्प भी मान॥

होता है जिस सिन्धु में
प्रतिदिन धारापात?
क्षुद्र विन्दु से हो कहीं
कम्पित उसका गात!

पड़ा जहाँ निरपेक्ष वह,
नाम-गोत्र से हीन।
मैंने देखा, थे वहाँ,
शीत-विन्दु दो तीन॥

प्रति दिन प्रातःकाल दृग-
जल का अक्षय हार।
देती जगदम्बा उसे,
यह कैसा सत्कार॥

१८—कालिदास के प्रति

तुम हो कवि-कुल-कुमुद-कलाधर ।
उदित हुए साहित्य-गगन में
तुम भारत का मुख उज्ज्वल कर ॥

निष्कलङ्क है ज्योति तुम्हारी ,
होती जाती वह निर्मलतर ।
विश्व-ताप से तप्त हृदय का,
हर लेती सन्ताप निरन्तर ॥

भव-सागर में तुमने अपना ,
प्रतिभा-जाल फेंक कर कविवर !
खींच लिये सब भाव रत्न अब ,
मानव-हृदय हुआ रत्नाकर ॥

चिर-विच्छेद-विलाप प्रेम-सुख ,
आशा और निराशा का स्वर ।
तुमने ही अपनी वीणा में ,
सुना दिया भारत को क्षण भर ॥

जब भारत में मोह-निशा थी,
जला दिया तुमने तब दीपक ।
हुआ दूर तम उससे उसकी ,
दीप-शिखा निश्चल है अब तक ॥

१६—उलहना

कहो तो यह कैसी है रीति ?
तुम विश्वम्भर हो, ऐसी,
तो होती नहीं प्रतीति ॥

जन्म लिया बन्दीगृह में,
क्या और नहीं था धाम ?
काला तुमको कितना प्रिय है,
रखा कृष्ण ही नाम ॥

पुत्र कहाये तो ग्वाले के,
बने रहे गोपाल।
मणि मुक्ता सब छोड़,
गले में पहने क्या बनमाल ॥

चोर बने मक्खन के,
दुनिया हँसती आज तमाम।
जहाँ देखता, वहाँ तुम्हारा
टेढ़ा, ही है काम ॥

टेढ़ा मुकुट, खड़े रहना भी
टेढ़ा, टेढ़ी दृष्टि।
टेढ़ेपन की, नाथ, हुई है
तुम से जग में सृष्टि ॥

भाई भाई को लड़वाकर
किया सर्व-संहार।
"लड़लड़" यह उपदेश तुम्हारा!
किया खूब उपकार॥

अब तो कृपासिन्धु! छोड़ो
यह अपनी टेढ़ी चाल।
देखो तो, जगती का कैसा
हुआ बुरा है हाल॥

२०—आलोक और तिमिर

नाथ, यह कैसा ज्योति-प्रदान।
पल भर में ही मोह-निशा
का हुआ, हाय, अवसान॥

अन्धकार में भले-बुरे का
नहीं हुआ था ज्ञान।
अपने और पराये की
थी ज़रा नहीं पहचान॥

एक रंग में रँग कर सारा
जगत हुआ था एक।
यह निर्मल, वह मलिन,
हुआ था ऐसा किसे विवेक॥

अब तो तेरी दिव्य ज्योति से
हुई तमिस्त्रा नष्ट।
मुझ ऐसे नीचों को इससे
होता है अति कष्ट॥

अच्छे और बुरे का सब ही
करने लगे विचार।
अधमों से तो घृणा सर्वदा
करता है संसार॥

लौटा दो तम, मुझे ज्योति
की कभी नहीं है चाह।
भेद-भाव हो दूर, हृदय की
मिट जावे यह दाह॥

२१—अभिलाषा

यह जग ही है, अथवा लीला-
मय नटनागर का रङ्ग-स्थल।
प्रभुवर, तेरी इस माया से
हो गया मूढ़ संसार सकल॥

जब श्याम घटाओं से आवृत
हो जाता खूब नभोमण्डल।
तब ही क्षण भर में वहाँ प्रकट
हो जाती विद्युज्ज्योति चपल॥

जब खूब पङ्कमय हो जाता है
कासारों का वक्षस्थल।
होता तुरन्त है उदित तभी
उसके भीतर से अमल कमल॥

जब घोर अमावस में शशि का
मैं देख नाश होता विह्वल।
तब उस दिन से ही तू उसको
कर देता अधिकाधिक निर्मल॥

है मृत्यु जहाँ, हो जन्म वहाँ,
हो पाप सिन्धु में सुधा अमल।
तू अन्धकार में ही छिपकर,
कर दे प्रज्वालित प्रेम-अनल॥

२२—आगमन

सुना आगमन प्रभु का ज्योंही,
वह हो गया अधीर।
वह तो विश्वनाथ है, मेरा
है यह क्षुद्र कुटीर।

आसन नहीं, कुटी भी मेरी
है हो गई मलीन।
आवेंगे, तब कहाँ कहूँगा,
प्रभु होवें आसीन॥

हुआ व्यग्र वह, "क्षण में कैसे,
कर दूँ इसे विशुद्ध!"
देख सके कोई मत, इससे
किया द्वार अवरुद्ध॥

बैठा वहीं अँधेरे में वह,
था चिन्ता में लीन।
"स्वागत कैसे करूँ नाथ, मैं
तो हूँ सब से हीन॥"

इतना कहा, प्रदीप जलाकर,
खड़ा हुआ वह दीन।
चौंक पड़ा, देखा तो प्रभुवर,
थे गृह में आसीन॥

२३—बिखरा फूल

खुला मन्दिर का ज्यों ही द्वार ,
किया सब भक्तों ने जय घोष ।
देख कर उनका हर्ष अपार ,
हुआ क्या प्रभु को कुछ संतोष ।

बढ़े सब देने निज उपहार ,
छिड़ गया भक्तों में संग्राम ।
भेंट किसकी होगी स्वीकार ,
हँसे थे तब क्या करुणा-धाम ?

परीक्षा थी भक्तों की आज ,
और प्रस्तुत ही थे सब भक्त ।
बढ़ चला उनका शीघ्र समाज ।
रह गये निर्बल और अशक्त ।

हुआ जल से प्रभु का अभिषेक ।
और फिर फूलों से श्रृङ्गार ।
भेंट तो थी अनुपम प्रत्येक ।
मलिन था नहीं एक भी हार ।

दब गये फूलों से भगवान् ,
छिप गया उनका रूप विराट् ।
भक्त की महिमा का कुछ ज्ञान ,
हुआ क्या तुम्हें विश्व-सम्राट ?

द्वार पर बालक था असहाय ।
बढ़ाया उसने अपना हाथ ॥
किन्तु था कोई नहीं उपाय ।
कौन दे सकता उसका साथ !

भीड़ से था वह बालक त्रस्त ।
नहीं थी कोई उसकी भूल ॥
देखने में ही था वह व्यस्त ।
गिरा, बिखरा, उसका वह फूल ॥

लालसा बालक की अज्ञात,
दलित हो गई फूल के साथ ॥
सहा दोनों ने मर्माघात ।
हुई क्या व्यथा तुम्हें कुछ नाथ ?

स्वर्ग में पहुँचे सब उपहार ।
देव-दूतों की थी क्या भूल ?
किया प्रभु ने सब का सत्कार ।
किन्तु उर पर था बिखरा फूल ॥

२४—नाम

लिखूँ तो लिखूँ भला क्या और,
करूँ मैं क्या यश का विस्तार।
तुम्हारा लिख सकता हूँ नाम,
वही लिखता हूँ बारम्बार ॥१॥

विज्ञ से होगी महिमा-वृद्धि,
वही कर सकते ऐसा काम।
किन्तु हो जाता हूँ कृतकृत्य,
तुम्हारा लिख कर ही मैं नाम ॥२॥

कल्पना का यह नहीं विलास,
न है यह तर्क से, तत्त्व-विवेक।
तुम्हारा नाम-मात्र है, सत्य,
किन्तु मेरा है आश्रय एक ॥३॥

भेज देता हूँ मैं लिख नाम,
नहीं रहता है कुछ भी स्पष्ट।
बिना देखे ही तुम चुपचाप,
उसे कर देते क्षण में नष्ट ॥४॥

जिन्हें अक्षत कृति का है गर्व,
वही करते मेरा उपहास।
किन्तु तुम तो करके भी नष्ट,
स्वयं आ जाते मेरे पास ॥५॥

नहीं करते तुम कभी विलम्ब,
न करते हो, कुछ सोच-विचार।
जान जाते हो, कोई आज,
प्रतीक्षा करता मेरे द्वार ॥६॥

करो तुम विघ्नों का सत्कार,
नहीं मुझको आदर की चाह।
न भूलो तुम इतनी ही बात,
कि कोई देख रहा है राह ॥७॥

२५—अन्त

किया इन्दिरा ने उत्पात।
समझाया मैंने, पर
उसने सुनी न मेरी बात ॥१॥

मार दिया मैंने तब,
उसको, मुझको आया रोष।
रोती चली गई वह भीतर,
था उसका ही दोष ॥२॥

फिर सोचा, था उचित नहीं,
यों मुझको करना क्रोध।
यह तो बच्चों का स्वभाव है,
उन्हें कहाँ है बोध ॥३॥

यही सोच कर मुझको,
होने लगा बड़ा परिताप।
काम छोड़ कर तब मैं भीतर,
चला गया चुपचाप ॥४॥

देखा, सोती थी वह लेकर,
गुड़िया अपने साथ।
बड़े स्नेह से मैंने उसपर,
फेरा अपना हाथ ॥५॥

कहने लगा—तुम्हारी, प्रभुवर,
हूँ मैं भी सन्तान।
मुझ से भी होती हैं भूलें;
मुझको है क्या ज्ञान ॥६॥

कितना ही दो दण्ड, तुम्हारा
है तो स्नेह अगाध।
तुम जाओगे भूल अन्त में,
मेरे सब अपराध ॥७॥

२६—भारतवर्ष

हमारा है यह भारतवर्ष ।
फैला कर निज बाहु हिमालय,
खड़ा अनादि काल से निर्भय,
करता है घोषित उसकी जय,
द्वार-रक्षक है वह दुर्धर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥१॥

पद-तल पर विस्तृत है सागर,
क्षण क्षण में भीषण निनाद कर,
फैलाता आतङ्क जगत पर,
किसी का सह्य नहीं आमर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥२॥

फल-पुष्पों से हो वह सज्जित,
दिव्य प्रभा से हो अतिरंजित,
नन्दन-कानन को कर लज्जित,
बढ़ाता है सब का यह हर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥३॥

कर अनन्त-वैभव का सञ्चय,
ज्ञानागार उसी का अक्षय,
आत्म-विजय से ही महिमामय,
जगत का एक मात्र आदर्श ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥४॥

यद्यपि लुप्त हुई है महिमा ,
भूला है वह अपनी गरिमा ,
पर अङ्कित है उसकी प्रतिमा ,
पुनः होगा उसका उत्कर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥५॥

२७—कवि-खद्योत

होते हैं तम में प्रकट
कितने कवि-खद्योत।
तम में होता नष्ट है
सब का जीवन-स्रोत॥

पाते हैं वे सर्वदा,
देकर अपने प्राण।
लोगों की अवहेलना,
अयश तथा अपमान॥

किन्तु जगत का वे बड़ा
करते हैं कल्याण।
उनसे ही सत्काव्य का
होता है निर्माण॥

नीच मृत्तिका पर नहीं
करते जन दृग-पात।
सब से वह पद-दलित हो
रहती है अज्ञात॥

पर उससे रस ग्रहण कर
होती जिसकी पुष्टि।
उस गुलाब के वृक्ष से,
जग को होती तुष्टि॥

२८—मिनी की ममता

युद्धभूमि के चित्र पर
मैंने अपनी दृष्टि।
देकर चिन्तित भाव से
कहा—हाय यह सृष्टि!

होती आज विनष्ट है,
था किसका अभिशाप?
धीरे से आकर मिनी,
खड़ी हुई चुपचाप॥

अधरों पर थी हास्य की
रेखा बड़ी पवित्र।
मैंने उसको दे दिया
युद्ध-भूमि का चित्र॥

देखा, उसका तो बड़ा
था विचित्र ही ढंग।
शत्रु-मित्र के भाव का
किया मिनी ने भंग॥

फ्रांस और इंग्लैंड पर
था जब उसका हाथ।
जर्मन देशों का दिया
सजल दृगों ने साथ॥

२६—परिणाम

जीवन की ज्वाला से मेरा
यह क्षुद्र हृदय-सर सूख गया ।
मैं हुआ विकल, सोचा क्या प्रभु
की होगी मुझ पर नहीं दया ?

जब सब पर करुणा-वृष्टि हुई ,
तब मुझ पर भी लघु बूँद पड़ी ।
गिरते ही वह झट लुप्त हुई ,
तब मुझे हुई वेदना बड़ी ॥

मैंने देखा, जग में बहता
था मलिन प्रेम का कुत्सित जल ।
मैं करता क्या ? उससे ही अपने
किया गात्र को कुछ शीतल ॥

कुछ दिन तक तो निर्भय होकर
उसमें ही खूब विलास किया ।
जब ग्लानि हुई, कुछ खेद हुआ ,
तब उसे हृदय में छिपा लिया ॥

हो गया शुद्ध तनु, हृदय पङ्कमय
बना हुआ ही है अब तक ।
मैं सोच रहा हूँ, कमलों का
होगा विकास उसमें कब तक ?

३०—क्षुद्र का महत्व

क्षुद्र हूँ, मैं मानता हूँ, क्षुद्र हूँ।
पर इसी से, नाथ, तुम तो हो बड़े ॥
गिर पड़ा हूँ, आज जो गिरता नहीं।
कौन कहता तब भला तुम हो खड़े ॥ १ ॥

जानता हूँ, तुम बड़े निर्दोष हो।
दुष्ट हैं हम, तब तुम्हारा नाम है ॥
यदि कभी जग में जरा भी तम न हो।
तो भला इस ज्योति का क्या काम है ॥ २ ॥

गर्व है क्या दान देने का तुम्हें ?
दान है वह, नाथ देते हो जभी ॥
फूल जो देता वही तो गन्ध है।
रख लिया तो गन्ध वह होगा कभी ॥ ३ ॥

विश्वपति हो, विश्व है जब तक यहाँ।
कौन सा उपकार तुमने कर दिया ॥
तोड़ कर भव-जाल को भी देख लो।
कौन सा अपकार तुमने कर लिया ॥ ४ ॥

३१—ताजमहल

मूर्ति भव्य है किन्तु हृदय
तो है केवल पाषाण।
अश्रुजलों से हो सकता
है क्या इसका निर्माण ?

मैंने सोचा, शाहजहाँ का
यह कैसा प्रतिदान।
इस उज्ज्वल कठोरता से
क्या हुआ प्रेम का मान ?

ज्यों ही यमुना जी पर मेरी
पड़ी अचानक दृष्टि।
समझ गया मैं, प्रेम भाव
की होती कैसे सृष्टि॥

ताप-पुञ्ज से रवितनया
यह जैसे हुई प्रसूत।
गिरि के वज्र-हृदय से
होती वारि-राशि उद्भूत॥

है नैराश्य, विषाद, प्रेम
का, ताजमहल, तू धाम।
तुझ में ही कर सकता है
वह प्रेम-पुञ्ज विश्राम॥

३२—उच्छ्वास

मेरे हुए न कोई, नाथ!
कैसे कहूँ तुम्हीं से प्रभुवर
दो तुम मेरा साथ।

माता, पिता, पुत्र, पति, सब तो
चले गये मुंह मोड़।
मैं अभागिनी बैठी ही हूँ
किससे नाता जोड़।

सब के लिए उदित रवि होते,
सब के लिए प्रभात।
मैं ही अन्धकार में बैठी
रहती हूँ दिनरात।

सब को कृपा वारि देते हो
तुम घनश्याम अपार।
सूख गया मेरा ही उपवन,
उजड़ गया संसार,

सभी तुम्हें कहते हैं प्रभुवर,
तुम हो करुणागार।
तुम भी मेरे लिए रुद्ध
कर चुके, नाथ, निजद्वार॥ १॥

मेरा वह तो था जगदीश।
मेरे सुख, मेरी आशा,
मेरे नभका रजनीश।

मेरे अञ्चल की निधि वह था
मेरा विभव विशाल।
मेरे वृन्दावन का पावस
वही एक गोपाल।

एक एक कर सब कुछ मेरा
छीन ले गया काल।
सहती रही छिपाकर अपने
उर में अपना लाल।

तुम्हीं दे गये, तुम्ही ले गये,
कहूँ तुम्हें क्या नाथ।
दुखिनी का अवलम्ब छीनकर
अब क्या दोगे साथ ॥ २ ॥

वही था, मेरे गृह का दीप।
उसे छिपा कर निज अञ्चल में
रखती हृदय समीप।

नभ में करता रहे निशाकर
नवशोभा की सृष्टि।
मेरे उर में वह निज छबि से
करता अमृत-वृष्टि।

रत्नों से मण्डित प्रासादों
में हो विभव-विकास।
मेरी क्षुद्र कुटी में बिखरा
उसका हर्षोल्लास।

हे जगदीश, किया है तुमने
अखिल विश्व-निर्माण।
मेरे ही गृह का क्यों तुमने
किया दीप-निर्वाण ॥ ३ ॥

बहुत सह चुकी, अब न सहूँगी।
तुम हो निपट निरंकुश निष्ठुर,
मैं तो यही कहूँगी।

अब तक रही भटकती फिरती,
अब तो बैठ रहूँगी।
पड़ी हुई हूँ भव प्रवाह में
अब तो और बहूँगी।

मत छोड़ो यह जाल, फँसी हूँ
अब क्या और फसूंगी।
हँसी तुम्हारी ही तो होगी,
मैं भी नाथ हसूँगी ॥ ४ ॥

सुन चुकी हूँ तुम्हारा नाम।
अब न पूछूँगी किसी से
मैं तुम्हारा धाम।

दीनबन्धु, कहाँ रहोगे
छोड़ दीन निवास।
पतित पावन कौन आता,
नीच जन के पास।

व्याध, शबरी और गणिका
के गृहों के द्वार।
जानती हूँ नाथ कैसे
थे वे सुषमागार।

मैं न खोजूँगी, प्रभो, अब
स्वर्ग-लोक ललाम।
क्योंकि प्रभुवर सुन चुकी हूँ,
मैं तुम्हारा धाम ॥ ९ ॥

३३—कुछ

किसी से कह न सकूँ जो बात,
तुम्हारे लिए वही मैं आज।
यहाँ लिखता हूँ निस्सङ्कोच,
तुम्हीं रक्खोगे मेरी लाज।
विज्ञजन से मिलता उपहास,
बन्धुजन से आश्वासन-मात्र।
किन्तु कह तुमसे अपनी बात,
बना ही रहा स्नेह का पात्र॥ १॥

स्वार्थमय तो है यह संसार,
स्वार्थवश करते हैं सब काम।
जगत में दो ही दुर्लभ रत्न,
स्नेह निश्छल, सेवा निष्काम॥
किसी से पाया मैंने स्नेह,
किसी में देखा मैंने त्याग।
किसी ने सेवा की सप्रेम,
किसी से मिला मुझे अनुराग॥ २॥

किया कितनों से मैंने मेल,
किया कितनों से वैर-विरोध।
किसी से घृणा, किसी से द्वेष,
किसी पर स्नेह, किसी पर क्रोध॥
सुखों के लिये सहा है कष्ट,
मान के लिये वेदना मात्र।
किये कितने सुकर्म-दुष्कर्म,
रहा मैं यश-अपयश का पात्र॥ ३॥

देविका रानी का था खेल,
उमड़ आया था जन समुदाय।
भूल जाने को सारे कष्ट,
कल्पना ही है एक उपाय॥

सत्य का है असह्य आघात,
त्रस्त हो जाते बड़े प्रवीण।
कल्पना का ही मधुर प्रलेप,
वेदना को कर देता क्षीण॥ ४॥

भू पतित कोई प्रस्तर खण्ड,
देव पद कर लेता है लब्ध।
जगत में हो जाता है पूज्य,
कहेंगे क्या इसको प्रारब्ध।

नहीं तुममें कुछ गौरव गुण,
शक्ति है अन्य किसी की लीन।
स्वयं तुम तो हो केवल दास,
भले हो प्रभु-पद पर आसीन॥ ५॥

धर्म-विज्ञों का माया-जाल,
मूढ़ फँसते उसमें तत्काल।
छिपाने को ही निज अन्याय
न्याय का बनता भवन विशाल॥

धर्म से आई है कब शक्ति,
शक्ति ही निर्मित करती धर्म,
शक्ति जो करे वही है धर्म
शक्ति से हीन कर्म दुष्कर्म॥ ६॥

करोगे दया नहीं क्या, नाथ,
छोड़ ही दोगे अब क्या साथ ?
सूझती मुझे नहीं है राह,
अब नहीं पकड़ोगे क्या हाथ ?

भटकता फिरा ग्राम से ग्राम,
प्रभो, भटकाओगे क्या और।
रहूँगा कब तक यों सन्त्रस्त,
नहीं दोगे चरणों पर ठौर ॥ ७ ॥

व्यर्थ आशा से होकर मुग्ध,
भटकता फिरा सभी के द्वार।
विनय, अनुनय, आग्रह, अनुरोध,
न किया किससे बारम्बार ॥

अयाचित ही तुमने जब हाथ,
बढ़ा कर रख ली मेरी लाज।
कर दिया सार्थक अपना नाम,
अब कहूँ क्या मैं तुमको आज ॥ ८ ॥

बन पड़ा मुझसे जो कुछ, नाथ;
किया पर हुआ न सफल प्रयास।
लिया जब तुमने ही मुँह फेर,
करूँ तब मैं किस पर विश्वास ॥

देखकर मुझको अब उद्विग्न,
हो रहा है कुछ को परितोष।
तुम्हीं जब भूल गये हो नाथ,
तब भला दूँ मैं किसको दोष ? ॥ ९ ॥

राजकन्याओं की अपमृत्यु,
हो गया सुनकर मैं तो स्तब्ध।
छोड़कर प्राणों का भी मोह,
उन्होंने किया भला क्या लब्ध॥

मोह से थीं क्या वे अभिभूत,
या उन्हें था कुल का अभिमान।
वेदना थी क्या उन्हें असह्य,
किया किस महिमा पर बलिदान॥१०॥

दे चुका जब अपना सर्वस्व,
कहा सब ने अब हुए कृतार्थ।
सुता तो है पर की सम्पत्ति,
बात है उनकी सत्य, यथार्थ।

हुआ कुछ लोगों को सन्तोष,
किया कुछ लोगों ने परिहास।
पद्म का अन्तस्तल है शून्य,
करेगा कोई क्या विश्वास॥११॥

चकित रह जाता हूँ मैं देख,
बड़ों का बड़ा विलक्षण ढंग।
कहूँ कैसे उनको मतिहीन,
हो रही मेरी ही मति भंग॥

भूल वे अपनी गरिमा आज,
बन गये हैं पर के ही दास।
स्वभाषा, स्वजन, स्वधर्म, स्वदेश,
किसी पर है न उन्हें विश्वास॥१२॥

सदा करती हो तुम उत्पात,
मुझे होता यह देख विनोद।
नहीं रह सकती तुम गम्भीर,
न रुकता कभी तुम्हारा मोद॥

बन गया हूँ मैं तो अब खेल,
मान ली मैंने तुमसे हार।
अभी तक तुमको हुआ न ज्ञात,
कार्य का है कैसा गुरु—भार॥१३॥

क्यों न हो सुखमय वह आगार,
जहाँ हो गृह लक्ष्मी का वास।
किसी को हो क्यों कष्ट, अभाव,
स्वयं जन श्री रहती है पास।

तुम्हारी देख कुशलता देवि,
क्यों न मैं करूँ यहाँ स्वीकार।
न थी नल की अपनी कुछ शक्ति,
रहा दमयन्ती पर ही भार॥१४॥

किसी ने सञ्चित की सम्पत्ति,
किसी ने किया शक्ति-विस्तार।
किन्तु तुमने तो मेरे बन्धु,
नहीं देखा इनमें कुछ सार।

सभी हैं स्वार्थ-सिद्धि में व्यग्र,
तुम्हीं में देखा मैंने त्याग।
सेव्य बनना है सब को इष्ट,
तुम्हें सेवा से ही अनुराग॥१५॥

कष्ट सङ्कट में न हो अधीर,
और सुख में न कभी मतिहीन।
न हो उन्नति में मिथ्या दम्भ,
न हो अवनति में कातर दीन।

कार्य में रहकर सदा सचेष्ट,
हुए कब व्यग्र, किया कब रोष।
तुम्हें ही देखा यों मति-धीर,
अन्य हों चाहे कितने दोष ॥१६॥

मूढ़ हूँ क्यों न करूँगा भूल,
नीच हूँ क्यों न रहेंगे दोष।
देखने में ही मेरी भूल,
सदा होगा तुमको क्या तोष।

न हो यदि सेवा स्मृति के योग्य,
कहोगी क्या न कभी यह बात।
मूढ़ तो था वह निस्सन्देह,
भाव पर थे उसके अवदात ॥१७॥

दीन पर सदा दया की दृष्टि,
अज्ञजन का आदर-सत्कार।
तुम्हीं तो कर सकती हो देवि,
तुम्हारा ही है हृदय उदार।

तुम्हारा आश्रय पाकर देवि,
बन गया हूँ मैं भी गुण-धाम।
क्षुद्र की कर यों महिमा-वृद्धि,
किया तुमने सार्थक निज नाम ॥१८॥

अधर पर निश्छल हास्य निगूढ़,
हृदय में है सद्भाव अपार।
सरलता की प्रतिमा अवदात,
स्नेह की सकरुण छबि सुकुमार।

क्यों न हो वन्दनीय सर्वत्र,
लोक-पावन है जिसका नाम।
रहो तुम गिरिजा ही हे देवि,
तभी गृह होगा लोक ललाम ॥१९॥

खेलती मुख पर सुश्री नित्य,
शील-सङ्कोच-स्नेह से युक्त।
झलक जाती प्रतिभा की दीप्ति,
ज्योति-रेखा-सी उज्ज्वल, मुक्त।

गुणार्जन कर विद्या के साथ,
करो तुम सार्थक अपना नाम।
सुशीला ही बन कर हे देवि,
करोगी निज गृह सुख का धाम ॥२०॥

हुआ यह सहसा वज्र निपात,
कहूँ क्या तुमको हे भगवान्।
वही होता जो तुमको इष्ट,
इष्ट यह क्या था दया निधान॥

विधाता का यह विषम विधान,
अनुज को समझावे अब कौन।
शोक से कर उसको विक्षिप्त,
नाथ रह जाओगे क्या मौन ॥२१॥

जरा से जीर्ण, व्याधि से ग्रस्त,
हो गई थी जननी अति क्षीण।
किसी की थी न उन्हें कुछ चाह,
पड़ी थीं भू पर कान्ति-विहीन॥

अन्त तक स्नेहमयी थी दृष्टि,
मृत्यु ले गई उन्हें निज धाम।
मरण क्या है बंधन से मुक्ति,
चिरंतन है या वह विश्राम॥२२॥

कहाँ वह स्नेह, शील, सङ्कोच,
कहाँ यह निष्ठुरतम व्यवहार।
किया तुमने यह कैसे देवि,
प्रेम का यह कैसा प्रतिकार॥

तुम्हें था मानिन प्रिय बस मान,
मान पर किया आत्म-बलिदान।
मातृ-पद के गौरव की ओर,
किन्तु तुमने न दिया कुछ ध्यान॥२३॥

कहें अब क्या हम दीनानाथ,
कर्म का ही होगा यह दंड।
करेंगे क्यों न उसे स्वीकार,
तुम्हारी भी है रोष प्रचंड॥

क्षुद्र हैं, तुम्हीं हमें दो शक्ति,
दंड हम सह लें नाथ सहर्ष।
या हमें कर दो बन्धन मुक्त,
विकट है यह जीवन संघर्ष॥२४॥

जानती है वह मेरे दोष,
नहीं उससे कुछ भी अज्ञात।
भला, कैसा है उसका स्नेह,
न कहती अपनी कोई बात॥

किया करती सेवा चुपचाप,
न रखती अपना कुछ अधिकार।
उसे है एक इसी में हर्ष,
करूँ उसकी सेवा स्वीकार॥२५॥

ज्ञात तो है तुमको सब सत्य,
छिपी क्या तुमसे कोई बात।
जानते हो तुम मेरे दोष,
नहीं तुमसे कुछ भी अज्ञात॥

बता दो अब है कौन उपाय,
सुझा दो मुझे आज तुम राह।
हो रहा हूँ कर्त्तव्य-विमूढ़,
बढ़ रही मेरी अन्तर्दाह॥२६॥

करूँ मैं चाहे कितना दम्भ,
जानता हूँ मैं अपने दोष।
किया करता हूँ जो कुछ काम,
मुझे क्या है उनसे संतोष॥

अधिक करने की भी तो शक्ति,
नहीं है मुझमें अब तो नाथ।
ले चलो चाहे जिस ओर,
पकड़ कर मेरा दुर्बल हाथ॥२७॥

जानकर मुझको क्या तुम नीच,
साथ रह गये आज यों मौन।
तभी अच्छों का देते साथ,
नीच का साथी होगा कौन॥

दोष हैं मुझमें तो प्रत्यक्ष,
किन्तु देखो तुम अपनी ओर।
तुम्हारी हुई दया निः शेष,
पाप क्या हैं यों मेरे घोर ॥२८॥

कपट कहते हैं जिसको अज्ञ,
वही है विज्ञजनों की नीति।
स्वार्थ की होती जिससे सिद्धि,
वही है मतिमानों की रीति॥

बना सकते जो पर को मूढ़,
शक्ति का करते वे उपभोग।
अज्ञ ही होते हैं बलहीन,
क्यों न वे सहें यातना रोग ॥२९॥

उच्च पद पर होकर आसीन,
सभी हो जाते हैं मतिमान।
अज्ञ ही तो होते हैं दास,
निहित है केवल पद में ज्ञान॥

बड़े हो सकते नहीं सदोष,
अनुचरों में ही होते दोष।
इन्हीं से होतीं भूल सदैव,
क्यों न वे करें इन्हीं पर रोष ॥३०॥

मान कर तुमने मुझको देव,
दे दिया सब कुछ निस्सङ्कोच।
ले लिया मैंने भी कर गर्व,
तथा तब मुझको भय या सोच।

तुम्हारा ले जीवन का भार,
बन गया स्वयं तुम्हारा भार।
खींच कर तुम्हे पङ्क में आज,
तुम्हीं से चाहूँ मैं उद्धार ॥३१॥

तुम्हारा ही पाकर संदेश,
मुझे कुछ मिली सांत्वना आज।
कर रहा आशा का संचार,
तुम्हारा यही स्नेह निर्व्याज ॥

स्वयं मैं हूँ सचमुच असमर्थ,
तुम्हारा ही है आश्रय एक।
ले चलो चाहे तुम जिस ओर,
खो चुका हूँ निज बुद्धि-विवेक ॥३२॥

जहाँ अब है विशाल प्रासाद,
वहाँ था केवल एक कुटीर।
जहां अब होता हर्षोल्लास,
वहाँ थी निर्जनता गम्भीर ॥

वहीं थे हुए प्रथम उद्भूत,
कल्पना के ये क्षुद्र प्रसून।
आज यदि कर दूँ उसको भेंट,
न होगी श्री उसकी क्या न्यून ॥३३॥

आख्यायिका

आख्यायिका-रहस्य

आज-कल साहित्य में कुछ ऐसे समालोचक पैदा हो गये हैं जो सर्वत्र सदाचार की शिक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं। उनकी समझ में साहित्य की सृष्टि मनुष्यों को सिर्फ 'कु' और 'सु' की शिक्षा देने के लिए हुई है। काव्य, नाटक, उपन्यास और आख्यायिका, सभी में वे धर्म का उपदेश चाहते हैं। एक जर्मन समालोचक ने यह साहस-पूर्वक कहा था कि शेक्सपीयर ने सांसारिक वैभव की अस्थिरता दिखाने के लिए ही "एज़ यू लाइक इट" (As you like it) नामक नाटक की रचना की है। उसमें शेक्सपीयर ने वन्य-जीवन का जो कल्पना-प्रसूत आदर्श और मनोहर दृश्य अङ्कित किया है वह संन्यास धर्म की शिक्षा का हेतु बन गया! एक बार किसी महिला ने रवीन्द्रनाथ से पूछा कि आपने अमुक कहानी किस मतलब से लिखी है, आपका उद्देश क्या था? उत्तर में रवीन्द्र बाबू ने कहा—"कहानी लिखने का उद्देश कहानी लिखना है। मैं कहानी इसीलिए लिखता हूँ, क्योंकि कहानी लिखने की मेरी इच्छा होती है। किसी मतलब से कहानी नहीं लिखी जाती। यह सच है कि आख्यायिका-लेखक पर काल का प्रभाव पड़ता है। पर काल और समाज का प्रभाव उतना ही रहता है जितने से उसका कला-कौशल प्रस्फुटित हो। मनुष्यों के हृदय में काल बहुवर्ण-रञ्जित सूत्रों का जाल बनाता है और उसकी उद्भावना साहित्य-जगत में होती है। आज-कल देश की जैसी दशा है वह लेखक के हृदय में अङ्कित हो गई है। उसका फल हमें उसकी कृति में मिलता है। साहित्य विज्ञान नहीं है और न वह धर्मशास्त्र है। यदि उसमें कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार ही पात्रों के चरित्र अङ्कित किये जायँ तो वह चित्र प्राण-हीन होगा। यह सम्भव है कि वह नेत्ररञ्जक हो। पर उसमें हम जीवित संसार

का आदर्श न देख सकेंगे। यदि कोई नियम निर्धारित किया जाय तो वह मानव-स्वभाव के अनुकूल हो—कठोर और स्थिर नहीं, वह हो मृदु और परिवर्तनशील।" यहाँ उदाहरण के लिए रवीन्द्रनाथ, मोपासां, गोर्की, वेल्स आदि की कुछ कहानियाँ दी जाती हैं जिनमें मानव-जीवन के चिरन्तन भावों का प्रदर्शन किया गया है।

१-उपक्रम

ज्यों ही बालक का कण्ठ फूटा त्यों ही उसने कहा—कहानी कहो।

दादी ने कहना शुरू किया—एक राजपुत्र था, उसके चार मित्र थे, एक मन्त्री का लड़का, दूसरा सौदागर का लड़का, तीसरा—इसी समय गुरु जी ने चिल्ला कर कहा—तीन चौके बारह।

परन्तु गुरु जी का हुङ्कार कहानी के राक्षस के हुङ्कार के आगे दब गया। वह लड़के के कानों तक पहुँचा नहीं। जो बालक के शुभचिन्तक थे उन्होंने उसको एक कमरे में बन्द कर बड़े गम्भीर स्वर से कहा—देखो तीन चौके बारह, यह तो सत्य है और राजपुत्र या मन्त्री-पुत्र की बात बिलकुल झूठी है। इसलिए—

उस समय बालक का मन मानस चित्र के उस समुद्र को पार कर रहा था जिसका पता किसी नक़शे में नहीं लग सकता। तीन चौके बारह उसके पीछे पीछे दौड़ता रहता है, परन्तु मृगजल की तरह उससे पानी नहीं निकलता।

शुभचिन्तकों ने समझ लिया कि लड़का पूरा बदमाश है। बेत की चोट से ही वह सुधर सकता है।

इधर गुरु जी का रुख देख कर दादी चुप हो गई। पर विपत्ति का अन्त यों ही नहीं हो जाता। एक जाती है तो उसकी जगह दूसरी आती है। दादी के चुप हो जाने के बाद पौराणिक जी ने आकर आसन जमाया और उन्होंने राम-बनवास की कहानी शुरू कर दी।

जब सूर्पनखा की नाक काटी जा रही थी तब शुभचिन्तकों ने

आकर कहा—इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। जो बात प्रमाणित हो सकती है वह है तीन चौके बारह।

उस समय हनूमान आकाश में इतने ऊँचे उड़ रहे थे कि इतिहास उनका पल्ला नहीं पकड़ सकता था। पाठशाला के बाद स्कूल में और स्कूल के बाद कालेज में लड़के के मानसिक सुधार की योजना होने लगी। परन्तु चाहे कुछ भी किया जाय यह बात मिट नहीं सकती कि कहानी की स्पृहा ही न रहे।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि केवल शैशव काल में ही नहीं, सभी अवस्थाओं में मनुष्य की पुष्टि कथा से होती है। इसी से पृथ्वी पर मनुष्य के घर घर में, मुख मुख में, ग्रन्थ ग्रन्थ में जो जमा होता है वह मनुष्य के सभी सञ्चयों से पढ़ जाता है।

शुभचिन्तक यह बात भूल कर भी नहीं सोचते कि कहानी का नशा ही विधाता का सब से अन्तिम नशा है। जब तक उसका सुधार नहीं किया जायगा तब तक मनुष्य के सुधार की आशा नहीं है।

एक दिन विधाता अपने कारखाने में अग्नि से जल और जल से मिट्टी गढ़ने लगे। उस समय सृष्टि वाष्पभार से व्याकुल थी। धातुओं और पत्थरों के पिण्ड क्रमशः गूँथे जा रहे थे गममें मसाला छोड़ा जाता था और वे दमादम पीटे जाते थे। उस दिन विधाता को देखने से यह बात किसी तरह ध्यान में नहीं आ सकती थी कि इनमें कहीं भी मनुष्य हैं। उस समय का कारखाना कहा जाता है सारवान्।

इसके बाद प्रारम्भ हुई प्राण की सृष्टि। घास उगी, पेड़ बढ़े, पशु दौड़े और पक्षी उड़े। कोई मिट्टी के बन्धन से आकाश में अञ्जलि देने के लिए खड़ा हुआ। कोई स्वतंन्त्र हो अपने को पृथ्वी पर विस्तृत करने के लिए चला। कोई जल की यवनिका पर चुपचाप नृत्य करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा में ही व्यस्त हुआ। कोई आकाश में पर फैला कर सूर्यालोक के वेदीतल में सङ्गीत की अर्घ्य-रचना के लिए उत्सुक हुआ। इसी समय से विधाता के मन में हलचल शुरू हुई।

इस तरह कितने युग व्यतीत हुए। हठात् एक दिन विधारा के मन में कोई विचार उठा उसने अपने कारखाने में उन-चास पवनों को तलब किया। उन सब को लेकर उन्होंने मनुष्य की रचना की। इतने दिनों के बाद कथा की बारी आई। इतना समय विज्ञान और शिल्प में कटा, अब साहित्य शुरू हुआ।

मनुष्य को उन्होंने कहानियों में ही व्यक्त किया। पशु-पक्षी का जीवन है आहार, निद्रा और सन्तान-पालन। मनुष्य का जीवन है कथा। कितनी वेदना, कितनी घटनायें, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, अच्छे बुरे के कितने घात-प्रतिघात होते हैं। इच्छा के साथ इच्छा का, एक के साथ दस का, साधना के साथ स्वभाव का, कामना के साथ घटना का सङ्घर्षन होने से कितना आवर्तन होता है। जिस प्रकार नदी जल की धारा है उसी प्रकार मनुष्य कथा का प्रवाह है। इसी से हम एक दूसरे से पूछते रहते हैं—क्या हाल है, क्या खबर है, इसके बाद क्या हुआ। इसी 'इसके' बाद' से मनुष्य व्यथा गूँथी हुई है। उसी को हम जीवन की कहानी कहते हैं। उसी को हम मनुष्य का इतिहास कहते हैं।

विधाता-रचित इतिहास और मनुष्य-रचित कहानी, इन्हीं दो से मनुष्य का संसार है। मनुष्य के पक्ष में केवल अशोक या अकबर की कथा ही सत्य नहीं है। जो राजपुत्र सात समुद्रों को पार कर सात राज्यों का धन खोजने के लिए निकला है वह भी सत्य है। हनुमान के वीरत्व की कथा भी सत्य है। उनके गन्ध-मादन को उखाड़ कर ले आने की बात पर कोई सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य के लिए औरङ्गज़ेब उतना ही सत्य है जितना दुर्योधन। किसके लिए अधिक प्रमाण है और किसके लिए कम, इस दृष्टि से इस सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती। देखना यही है कि कहानी की दृष्टि से वह असल है या नहीं। उसके लिए यही सब से बढ़ कर सत्य है।

२—परी का परिचय

जब राजपुत्र की अवस्था बीस वर्ष की होगई तब भिन्न भिन्न देशों से विवाह के प्रस्ताव आने लगे। ज्योतिषी जी ने कहा बाह्लीक देश की राजकन्या बड़ी सुन्दरी है, मानो गुलाब का फूल हो। राजपुत्र ने मुँह फेर लिया, जवाब कुछ नहीं दिया।

दूत ने आकर कहा—गान्धार की राजकन्या के अङ्ग भङ्ग से लावण्य फूटा पड़ता है, मानो अंगूर की लता से अंगूर टपके पड़ते हों। राजपुत्र उसी दिन शिकार खेलने के लिए चला गया, कई दिन बीत गये, पर वह लौटा ही नहीं।

फिर एक दूत ने आकर कहा—काम्बोज की राजकन्या को देख आया हूँ। प्रातःकालीन क्षितिज के समान वक्र उसके नेत्र-पल्लव शिशर से भी स्निग्ध और प्रकाश से भी उज्ज्वल हैं। राजपुत्र भर्तृहरि का काव्य पढ़ने लगा, पुस्तक पर से उसने अपनी आँख नहीं उठाई।

राजा ने कहा—यह क्या बात है? मन्त्री-पुत्र को तो बुलाओ।

मन्त्री पुत्र के आने पर राजा से पूछा—तुम तो हमारे लड़के के मित्र हो। बतलाओ, उसको विवाह से इतनी विरक्ति क्यों है?

मन्त्री पुत्र ने उत्तर दिया—महाराज, जब से आपके पुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी है तब से उन्होंने यही निश्चय किया है कि विवाह करेंगे तो परी से ही।

(२)

राजा ने आज्ञा दी कि परिस्तान का पता लगाया जाय। बड़े बड़े पण्डित बुलाये गये। उन्होंने बड़ी बड़ी किताबें उलट-पुलट कर देख डालीं, पर सभी ने कहा कि पुस्तकों में तो परिस्तान का कहीं इशारा तक नहीं है। तब बड़े बड़े सौदागर बुलाये गये। उन्होंने कहा—समुद्र पार कर हम कितने ही द्वीप देख आये हैं, पर परिस्तान का पता हमने कहीं नहीं पाया। तब राजा ने आज्ञा दी—मन्त्री-पुत्र को बुलाओ।

मन्त्री-पुत्र के आने पर राजा ने उससे पूछा—परिस्तान की कहानी राजपुत्र ने किससे सुनी है।

मन्त्री-पुत्र ने कहा—नवीन नाम का एक पागल है। वह हाथ में बंसी लिये जङ्गल जङ्गल घूमता फिरता है। उसी से राजपुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी है।

राजा ने कहा—अच्छा, उसी को बुलाओ।

नवीन पागल राजा को भेंट देने के लिए मुट्ठी पर जङ्गली फूल लेकर आया। राजा ने उससे पूछा—तुम परिस्तान का हाल जानते हो?

वह बोला—वहाँ तो मैं रोज़ आता जाता हूँ।

राजा—वह है कहाँ?

पागल—यहीं, आपके राज्य में, चित्रगिरि पहाड़ के नीचे, काम्यक सरोवर के किनारे।

राजा—वहाँ परियाँ दिखाई देती हैं?

पागल—दिखाई तो देती हैं, पर उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे सब छद्म-वेश में रहती हैं। कभी कभी तो जब वे चलीं जाती है तब वे अपना परिचय देती हैं और तब उन्हें कोई पा नहीं सकता।

राजा—तब तुम कैसे पहचान लेते हो?

पागल—कभी एक स्वर सुन कर और कभी एक प्रकाश देख कर।

राजा ने विरक्त होकर कहा—ये सब पागलपन की बातें हैं, निकालो इसको।

(३)

पर पागल की बात राजपुत्र के मन में जम गई। फागुन के महीने में जब वृक्षों की शाखायें फूलों से लद गईं और जङ्गल फूलों से भर गया तब राजपुत्र अकेला ही चित्रगिरि पहाड़ की ओर चल पड़ा लोगों ने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं? पर उसने किसी को कुछ उत्तर नहीं दिया।

गुफा के भीतर से एक झरना झरता था, जो काम्यक सरोवर में आकर मिल जाता था। लोगों ने उसका नाम रक्खा था—उदास निर्झरिणी। उसी झरने के किनारे एक टूटे-फूटे मन्दिर में राजपुत्र रहने लगा।

एक महीना बीत गया। शाखाओं में जो नये पत्ते निकले थे उनका रङ्ग गहरा हो गया और गिरे हुए फूलों से जङ्गल का रास्ता ढक गया। इसी समय एक दिन, प्रातःकाल, स्वप्न में राजपुत्र ने एक वंशी का स्वर सुना। उठ कर राजपुत्र ने कहा—आज मैं अवश्य परी को देख लूँगा।

(४)

घोड़े पर चढ़ कर राजपुत्र उसी के किनारे किनारे रवाना हुआ और काम्यक सरोवर के तट पर पहुँच गया। वहाँ उसने देखा कि एक पहाड़ी लड़की पद्मवन के किनारे बैठी हुई है। जल से उसका घड़ा भरा हुआ है, पर वह घाट से उठती नहीं। उस काली लड़की ने अपने कान के ऊपर काले बालों में एक शिरीष का फूल खोंस रक्खा है मानो गो-धूलि में तारा।

राजपुत्र ने घोड़े से झुक कर उससे कहा—तुम अपने कान के शिरीष फूल को मुझे दोगी ?

जो हरिणी भय नहीं जानती, जान पड़ता है, वह वही हरिणी थी। उसने गर्दन टेढ़ी कर एक बार राजपुत्र की ओर देखा। उसी समय उसकी काली आँखों के ऊपर किसी की छाया आकर पड़ गई, जिससे उनकी श्यामता बढ़ गई, मानो निद्रा के ऊपर स्वप्न का सञ्चार हुआ अथवा आकाश पर श्रावण का।

लड़की ने कान से फूल निकाल कर राजपुत्र के हाथ में देकर कहा—लो।

राजपुत्र ने उससे पूछा—सच बतलाओ, तुम कौन परी हो ?

यह प्रश्न सुन कर पहले उस लड़की के मुख पर विस्मय का भाव आया, फिर आश्विन के मेघ की चमक और वृष्टि की तरह वह खिलखिला कर हँसने लगी। उसकी यह हँसी रुकती ही नहीं थी।

राजपुत्र ने मन ही मन कहा—स्वप्न सफल हुआ। हँसी के इस स्वर से वंशी के स्वर का मेल है। फिर उसने अपने दोनों हाथ बढ़ाकर कहा—आओ।

लड़की उसका हाथ थाम कर घोड़े पर चढ़ गई।

उसने कुछ विचार नहीं किया। घाट पर उसका घड़ा पड़ा ही रहा। उसी समय शिरीष की शाखा से कोकिला बोल उठी—कुऊ कू।

राजपुत्र ने उस लड़की से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

लड़की ने कहा—कजली।

दोनों उदास-निर्झरिणी के किनारे उस टूटे-फूटे मन्दिर में पहुँच गये।

राजपुत्र ने कहा—अब अपना यह छद्म-वेश फेंक दो।

कजली ने कहा—हम तो जङ्गली लड़की हैं, छद्मवेश नहीं जानतीं।

राजपुत्र बोला—तब तुम अपना परी का रूप दिखलाओ।

परी का रूप! यह सुनते ही लड़की फिर हँसने लगी। राजपुत्र सोचने लगे—इस हँसी के स्वर से झरने का स्वर मेल खाता है। इसलिए यह झरने की परी है।

(५)

इधर राजा के पास खबर पहुँची कि राजपुत्र ने परी से विवाह किया है। तब राजभवन से घोड़ा, हाथी और पालकी आई।

कजली ने पूछा—यह क्या है।

राजपुत्र बोले—तुम्हें अब राजभवन चलना पड़ेगा।

तब कजली की आँखें डबडबा आईं, वह सोचने लगी—उसके घर के आँगन में सूखने के लिए जो बीज फैलाये गये थे वे वैसे ही पड़े हैं। उसके बाप और भाई शिकार के लिए जङ्गल गये थे, उनके भी लौटने का अब समय है। इसके बाद उसे स्मरण आया कि उसकी मा उसे विवाह के अवसर पर देने के लिए कपड़ा बुन रही है।

लड़की ने कहा—मैं नहीं जाऊँगी।

पर ढोल और दमामे बजने लगे। बाजे की आवाज़ में उसकी बात किसी ने नहीं सुनी।

जब कजली की पालकी राजद्वार पर पहुँची और कजली नीचे उतरी तब महारानी ने कपाल पर हाथ मार कर कहा—यह कैसी परी है।

राजकन्यायें कहने लगीं—छिः छिः—यह कैसी लज्जा की बात है।

दासियों ने कहा—परी का वेश भी कैसा है।

राजपुत्र ने कहा—चुप रहो, परी तुम्हारे घर में छद्मवेश में आई है।

(६)

दिन पर दिन जाने लगे। चाँदनी रात में राजपुत्र जाग कर कजली की ओर देखते कि कहीं उसका छद्म-वेश थोड़ा भी हटा है या नहीं, पर कजली की देह काले पत्थर पर खुदी हुई प्रतिमा की तरह दीख पड़ती। राजपुत्र चुपचाप बैठे बैठे सोचते—परी, रात्रि के अन्धकार में उषा की तरह तुम कहाँ छिपी हुई हो।

राजपुत्र को अब अपने घर के लोगों से लज्जा मालूम होने लगी। एक दिन कुछ क्रोध भी हुआ। प्रातःकाल जब कजली बिछौने से उठ कर जाने लगी तब राजपुत्र ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—आज मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। अब तुम अपना रूप दिखलाओ।

पहले यह बात सुनते ही कजली की हँसी नहीं रुकती थी। परन्तु आज उसकी आँखों में आँसू भर आये।

राजपुत्र ने कहा—तुम क्या हमें सदैव भ्रम में ही रक्खोगी?

कजली—अब नहीं रक्खूँगी।

राजपुत्र—अच्छा तो इस शरद्-पूर्णिमा में सब लोग तुम्हें परी के रूप में देखें।

(७)

पूर्णिमा का चन्द्रमा आकाश पर क्रीड़ा कर रहा था। राजभवन में नौबत बज रही थी। राजपुत्र ने वर के वेश में शयनगृह में प्रवेश किया। परी से उनकी 'शुभ-दृष्टि' होगी।

शयन-गृह में बिछौने पर सफ़ेद चादर बिछी थी, उस पर कुन्द के श्वेत फूल बिखरे पड़े थे। चन्द्रमा की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से गृह आलोकित हो रहा था। पर कजली कहाँ थी? तीन प्रहर बीत गये। परन्तु परी कहाँ है? राजपुत्र ने मन ही मन कहा—कभी कभी जब परी चली जाती है तब अपना परिचय देती है और तब उसे कोई पा नहीं सकता।

३—राजपुत्र

(१)

राजपुत्र चला जा रहा है। अपना राज्य छोड़ कर, सात राजाओं का राज्य पार कर उस में, जहाँ किसी राजा का राज्य नहीं, राजपुत्र चला जा रहा है।

यह उस काल की कथा है जिसका न आदि है और न अन्त।

शहर और गाँव में और सभी लोग हाट-बाज़ार जाते हैं, घर का काम-काज देखते हैं, लड़ाई-झगड़े में लगे रहते हैं। पर जो हमारा चिरकाल का राजपुत्र है वह केवल राज्य छोड़ कर चला जाता है?

क्यों जाता है?

कुएँ का जल कुएँ में ही बना रहता है, तालाब का जल तालाब में शान्त रहता है। पहाड़ का जल पहाड़ में अवरुद्ध नहीं रहता, मेघ का जल मेघ में ही रुका नहीं रहता। राजपुत्र को उसके राज्य में कोई रोक कर नहीं रख सकता। वह तो अज्ञात देश की खोज में निकलता है और बिना उसे देखे वह लौटने का नहीं। सात समुद्र और तेरह नदियों को पार कर उसे जाना ही होगा।

मनुष्य बारम्बार शिशु होकर जन्म लेता है और बार बार इसी पुरानी कहानी को नई बनाकर सुनता है। सन्ध्या-प्रदीप के स्थिर प्रकाश में लड़के चुपचाप गाल पर हाथ रक्खे सोचते हैं—हमीं वह राजपुत्र हैं।

जहाँ वह अज्ञात देश समाप्त हुआ वहीं सामने समुद्र है। उसके बीच बीच द्वीप है और उस द्वीप में दैत्यपुरी है, जहाँ राजकन्या वन्दिनी है।

पृथ्वी पर कोई धन चाहता है, कोई नाम चाहता है और कोई आराम खोजता है। पर हमारा राजपुत्र उस दैत्यपुरी से राजकन्या का उद्धार करना चाहता है। तूफ़ान उठ रहा है, नाव का पता नहीं। फिर भी राजपुत्र पथ ढूँढ़ रहा है।

यह मनुष्य की आदि कथा है, और सब अन्त की। पृथ्वी पर जिनका नवीन जन्म होता है वे अपनी दादी से इसी चिरन्तन कथा का हाल सुनना चाहते हैं कि राजकन्या वन्दिनी है; समुद्र दुर्गम है, दैत्य दुर्जय है और बेचारा राजपुत्र अकेला प्रण करता है कि मैं राज-कन्या को क़ैद से छुड़ा लाऊँगा।

बाहर अन्धकारमय बन में वृष्टि हो रही है। झींगुर शब्द कर रहे हैं और लड़के गाल पर हाथ दिये सोचते हैं—हमें दैत्यपुरी से राज कन्या को लाना होगा।

(२)

सामने असीम समुद्र आया, स्वप्न की लहरों से युक्त निद्रा के समान। वहीं राजपुत्र घोड़े से नीचे उतर पड़ा।

किन्तु ज़मीन पर पैर रखते ही यह क्या हुआ? किस जादू-गर का यह जादू है?

यह तो शहर है। ट्राम दौड़ रही है। आफ़िस की ओर जानेवाली गाड़ियों की भीड़ से रास्ता दुर्गम है। एक किनारे ताड़पत्ते की वंशी बनानेवाला लड़कों को आकृष्ट करने के लिए वंशी बजाता हुआ चला जा रहा है।

और राजपुत्र का यह कैसा वेश है, यह कैसी चाल है। शरीर पर सादा कुरता, धोती भी ख़ूब साफ़ नहीं। पैरों में पुराना जूता।

वह गाँव का लड़का है, शहर में पढ़ता है, ट्यूशन करके अपना ख़र्च चलाता है।

राजकन्या कहाँ है?

उसी के घर के पास एक घर में।

चम्पे के फूल की तरह उसका रङ्ग नहीं है और न उसके हसने से मोती झरते हैं। आकाश के तारा के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती नवीन वर्षा का आगमन होने पर घर की आड़ में नाम-हीन जो फूल खिला रहता है उसी के साथ उसकी तुलना हो सकती है।

मातृ-हीना होने पर वह बाप का आदर पाती थी। बाप था ग़रीब, पर अपात्र के साथ लड़की का विवाह भी नहीं करना चाहता था। इसी तरह लड़की की उम्र बढ़ने लगी। सब लोग निन्दा करने लगे।

बाप भी मर गया। तब लड़की अपने काका के घर आई।

पात्र की खोज हुई। वर का जैसा अधिक धन था वैसी ही अधिक आयु थी। उसके पोते-पोतियों की संख्या कम नहीं थी। उसी तरह उसका रोब-दाब भी कम नहीं था।

काका ने कहा—लड़की का बड़ा भाग्य है।

पर हल्दी चढ़ने के दिन लड़की का पता नहीं चला और पास के घर के लड़के का भी।

फिर खबर मिली कि दोनों ने छिप कर विवाह कर लिया है। उन दोनों में जाति का भेद रहने पर भी मन का मेल था। सब ने निन्दा की।

लक्षाधीश ने अपने इष्ट देवता को सोने का सिंहासन देने की प्रतिज्ञा कर कहा—देखूँ, कौन इस लड़के को बचा सकता है।

लड़के को अदालत में खड़ा कर विचक्षण वकीलों ने साक्षी-देवता की कृपा से दिन को भी रात सिद्ध कर दिया। कितने आश्चर्य की बात है!

उसी दिन इष्ट-देवता के सामने दो बकरों का बलिदान हुआ, ढोल-दमामे बजे। सभी प्रसन्न हुए—कहने लगे, कलिकाल तो है, परन्तु अभी धर्म उठ नहीं गया है।

(३)

इसके बाद—अनेक बातें हैं। जेल से लड़का लौट आया। परन्तु दीर्घपथ का अन्त नहीं हुआ। अज्ञात देश के पथ से भी वह अधिक

दीर्घ और निर्जन था कितने ही बार अन्धकार में उसने मनुष्य-गन्ध की खोज में लगे हुए पिशाच का चीत्कार सुना। मनुष्य को खाने के लिए इतना लोभ !

रास्ते का अन्त न हो, पर चलने का तो अन्त होता ही है । एक दिन उसे भी रुकना पड़ा।

उस दिन उसको देखनेवाला कोई नहीं था। सिरहाने पर एक दयामय देव खड़ा था। वह था यम।

यम ने ज्यों ही सोने की छड़ी से उसे छुवा त्यों ही यह क्या हो गया—शहर चला गया और स्वप्न भी टूट गया।

इसके बाद घड़ी भर में फिर वह राजपुत्र दिखलाई पड़ा। उसके कपाल पर असीमकाल की राजटीका थी। वह दैत्यपुरी के द्वार को तोड़ेगा और राजकन्या को बन्धन-मुक्त करेगा।

युग युग में बच्चे अपनी मा की गोद पर बैठे हुए यही कथा सुनते हैं कि घर छोड़ कर वह मनुष्य अज्ञात देश को चला जा रहा है। सामने सात समुद्र की तरङ्गे गर्जन कर रही हैं;

इतिहास में उसके भिन्न भिन्न रूप हैं, परन्तु इतिहास के उस पार उसका एक ही रूप है। वह है राजपुत्र ।

४—सिद्धि

(१)

स्वर्ग की अधिकार-प्राप्ति में मनुष्य को किसी प्रकार की बाधा न हो, यही उसका प्रण था। इसी से उसने बड़ी खोज से अमर होने का मन्त्र सीखा था। अब वह अकेला जङ्गल में उस मन्त्र की साधना में लगा है।

वन के एक कोने में लकड़ी बेचनेवाली एक लड़की थी । वह तपस्वी के लिए आँचल में भर कर फल और पत्ते के दोने में पानी ले आती थी।

क्रमशः तपस्या इतनी कठोर हो गई कि वह फल को छूता तक नहीं था । पक्षी आकर उसे खा जाते थे । कुछ दिन और बीते । तब

उसने पानी पीना भी छोड़ दिया। झरने का जल दोनों में ही सूख जाता था, उसके ओठ तक नहीं पहुँचता था।

लड़की सोचने लगी—अब क्या करूँ? मेरी तो सेवा ही व्यर्थ हो रही है।

इसके बाद वह फूल तोड़ कर तपस्वी के पैरों पर रख जाती थी। पर तपस्वी को इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। दोपहर में जब धूप हो जाती थी तब वह आँचल फैला कर उस पर छाया करती। पर तपस्वी के लिए क्या धूप और क्या छाया। कृष्णपक्ष में जब रात खूब अँधेरी हो जाती थी तब वह जागती बैठी रहती। तपस्वी के लिए भय का कोई कारण नहीं था, तो भी वह पहरा देती।

(२)

एक दिन ऐसा भी आया जब तपस्वी ने बड़े स्नेह से लड़की से पूछा—तुम अच्छी तो हो? लड़की बोली—मेरे लिए अच्छा क्या और बुरा क्या। पर तुम्हारी देख-रेख करनेवाली क्या मा, बहन, कोई नहीं है?

तपस्वी ने कहा—हैं तो सब, पर क्या वे सदा मेरी देख-रेख कर सकते हैं? क्या वे सदा मुझे बचा रक्खेंगे?

लड़की बोली—प्राण चिरकाल तक नहीं रहते, तभी तो प्राण के लिए इतनी व्याकुलता होती है।

तपस्वी ने कहा—मैं तो खोजता हूँ ऐसा पथ जिससे चिरकाल तक बचा रहूँ। मैं मनुष्य को अमर बनाऊँगा।

यह कह कर तपस्वी ने फिर जितनी बातें कहीं वे उसने मानो अपने ही को कहीं। उनका मतलब समझेगा कौन।

लड़की ने कुछ समझा नहीं, पर आकाश में नवीन मेघ का शब्द सुनकर मयूरी का हृदय जैसे व्याकुल हो जाता है वही दशा उसके मन की हुई।

कुछ दिनों के बाद तपस्वी ने मौन-व्रत धारण किया। वह लड़की से बोलता तक नहीं था। कुछ दिन और बीत जाने पर उसकी आँखें भी बन्द हो गईं। वह अब लड़की को देखता भी नहीं था।

लड़की अपने मन में अनुभव करने लगी कि वह तपस्वी से तपस्या के सैकड़ों कोसों की दूरी पर है। हजारों वर्षों में भी इस विच्छेद को पार कर पास पहुँच जाने की आशा नहीं थी।

तब तो कोई आशा नहीं रही। फिर भी वह व्यथित होती; सोचती—यदि दिन में एक बार भी वे बोलते कि तुम कैसी हो तो उसी से मैं दिन काट लेती। यदि एक बार भी वे फल और पानी ग्रहण कर लेते तो मुझे भी अन्न-जल रुचता।

(३)

इधर इन्द्रलोक में खबर पहुँची कि मनुष्य मर्त्यलोक का उल्लङ्घन कर स्वर्ग पाने की इच्छा करता है। उसकी इतनी स्पर्धा हो गई है।

इन्द्र ने ऊपर से तो खूब क्रोध प्रकट किया, पर मन ही मन वह डरने लगा। सोचा, दैत्य स्वर्ग-विजय करना चाहते थे अपने बाहु-बल से। उनके साथ लड़ाई होती थी। पर मनुष्य स्वर्ग लेना चाहता है दुःख के बल से। तो क्या उससे हार माननी पड़ेगी।

मेनका को बुला कर इन्द्र ने आज्ञा दी—जाओ उसकी तपस्या भङ्ग करो।

मेनका ने कहा—सुरराज, यदि स्वर्ग के अस्त्र से मर्त्यलोक का मनुष्य परास्त किया जाय तो इससे स्वर्ग का ही पराभव है। क्या मनुष्य का मरण-बाण स्त्री के हाथ में नहीं है।

इन्द्र ने कहा—यह भी तो सच है।

(४)

वसन्तकालीन पवन का झोंका खाकर माधवी लता प्रफुल्ल हो उठी। इसी तरह एक दिन उस लकड़ी बेचनेवाली लड़की को भी नन्दन-वन की हवा आकर लग गई। एक प्रकार के औत्सुक्य-पूर्ण माधुर्य के उन्मेष से उसका हृदय व्यथित हो उठा। उसके मन की भावनायें छत्ते से मधुमक्खियों के समान उड़ने लगीं। उन्हें कहीं मधु की गन्ध मिल गई।

ठीक इसी समय साधना की एक क्रिया शेष हुई। अब उसे निर्जर गिरि-गह्वर में जाना पड़ेगा। उसने आँखें मलीं। सामने देखा कि लड़की के जूड़े में अशोक की मञ्जरी है और उसके शरीर पर वासन्ती रङ्ग की साड़ी। वह पहचान में आती थी और नहीं भी आती थी, मानो वह ऐसा सङ्गीत हो जिसका स्वर तो परिचित है पर पद स्मरण में नहीं आते।

तपस्वी आसन छोड़ कर उठा और बोला—मैं बड़ी दूर जाऊँगा।

लड़की ने पूछा—क्यों जायँगे प्रभो ?

तपस्वी—तपस्या पूर्ण करने के लिए।

लड़की ने हाथ जोड़ कर कहा—मुझे दर्शन के पुण्य से क्यों वञ्चित करते हैं ?

तपस्वी फिर आसन पर बैठ गया और कुछ सोचने लगा। पर उसने कुछ कहा नहीं।

(५)

तपस्वी ने लड़की के अनुरोध को मान लिया, पर यही बात उसके हृदय में चुभने लगी। वह सोचने लगी—मैं तो साधारण लड़की हूँ। तो मेरी बात से बाधा क्यों हो।

उसी रात पत्ते के बिछौने पर अकेली पड़ी पड़ी वह खुद अपने आप से डरने लगी।

दूसरे दिन सबेरे वह फल तोड़ कर ले आई और तपस्वी ने हाथ फैला कर ले लिया। उसने पत्ते के दोने में जल लाकर दिया और तपस्वी ने उससे पानी पिया। सुख से लड़की का हृदय पूर्ण हो गया। किन्तु इसके बाद नदी के किनारे शिरीष की छाया के नीचे उसकी आँखों के आँसू नहीं थमे। न जाने वह क्या सोचने लगी।

दूसरे दिन उसने तपस्वी को आकर प्रणाम किया और कहा—प्रभो, मैं आशीर्वाद चाहती हूँ।

तपस्वी—क्यों ?

लड़की—मैं बड़ी दूर जाऊँगी।

तपस्वी ने कहा—तुम्हारी साधना सिद्ध हो।

(६)

एक दिन तपस्या पूर्ण हो गई। इन्द्र ने आकर कहा—स्वर्ग पर तुम्हारा अधिकार हो गया। तपस्वी ने कहा—अब स्वर्ग की ज़रूरत नहीं है।

इन्द्र ने पूछा—तो तुम क्या चाहते हो?

तपस्वी बोला—मैं इसी बन की लकड़ी बेचनेवाली लड़की को चाहता हूँ।

५-खिलौना

(१)

वह केवल नये नये खिलौने बनाया करता था। वे खिलौने राज-महल की राजकन्याओं के खेलने के लिए थे।

प्रतिवर्ष राजमहल के आँगन में खिलौने का मेला लगता था। उस मेले में बड़े बड़े कारीगर आते थे। परन्तु सब से अधिक प्रतिष्ठा उसी की होती थी। सब लोग उसी को सबसे ऊँचा स्थान देते थे।

जब वह सत्तर वर्ष का हो गया तब मेले में एक नया कारीगर आया। उसका नाम था किशनलाल। जैसी उसकी नई अवस्था थी वैसा ही उसका नया ढङ्ग था।

वह जो खिलौने बनाता था उनको कुछ तो गढ़ता था और कुछ नहीं गढ़ता था, कुछ तो रँगता था और कुछ यों ही छोड़ देता था। ऐसा जान पड़ता था कि वे खिलौने खतम ही नहीं होंगे, उनका कभी अन्त होने का नहीं।

नवयुवकों का दल कहने लगा—इस कारीगर का साहस प्रशंस-नीय है।

प्रवीणों के दल ने कहा—यह क्या साहस है? यह तो धृष्टता है।

किन्तु नये युग में नये का ही प्राधान्य होता है। नवयुग की राजकन्याओं ने कहा—हमें तो यही खिलौने चाहिए।

अतीत युग के अनुचरों ने कहा--छिः छिः, ये सब बुरे हैं।

परन्तु इससे तो राजकन्याओं की ज़िद बढ़ गई।

पुराने कारीगर की दूकान पर इस बार भीड़ नहीं हुई। झाबे में खिलौने घाट पर नाव की प्रतीक्षा में बैठे हुए यात्रियों की तरह उस पार ताकते हुए चुपचाप पड़े रहे।

एक वर्ष व्यतीत हुआ। बूढ़े का नाम सभी भूल गये। राजमहल के खिलौने के बाज़ार में किशनलाल ही सब का सरदार बन बैठा।

(२)

बूढ़े का जी टूट गया। अब उसे अपने जीवन के शेष दिन काटना कठिन हो गया। अन्त में उसकी लड़की ने आकर कहा—अब तुम चलो, हमारे घर में रहो।

दामाद ने कहा—खाओ, पीओ, आराम करो और खेत की निगरानी किया करो।

बूढ़े की लड़की सारा दिन अपने घर के ही काम में व्यस्त रहती थी। उसका दामाद मिट्टी के दिये बनाया करता था और उन्हें नाव पर लाद कर शहर में ले जाता था।

बूढ़ा यह नहीं समझ सकता था कि अब नया युग आ गया है। इसी तरह वह यह भी नहीं जानता था कि उसकी नतिनी पन्द्रह वर्ष की हो गई है।

वृक्ष के नीचे बैठ कर बूढ़ा खेत की रखवारी करता था और कभी कभी वहीं थक कर सो जाता था। वहीं उसकी नतिनी पीछे से आकर उसके गले में हाथ डाल कर लटक जाती थी। उस समय बूढ़े का एक एक रोम खुश हो जाता था।

एक दिन बूढ़े ने पूछा—क्यों बेटी, तुम्हें क्या चाहिए?

नतिनी ने कहा—हमारे लिए खिलौने बनाओ।

बूढ़े ने कहा—बेटी, मेरे बनाये खिलौने क्या तुम पसन्द करोगी ?

नतिनी बोली—क्यों नहीं, तुमसे अच्छा खिलौना बना ही कौन सकता है ?

बूढ़े ने कहा—क्यों, किशनलाल तो बनाता है।

नतिनी बोली—उसकी ताक़त क्या।

उस दिन से रोज़ दोनों में इसी तरह बात-चीत होती थी। बार बार वही एक बात होती थी। इसके बाद बूढ़ा अपनी झोली के सामान निकालता। आँखों में चश्मा लगा कर वह खिलौने बनाने बैठता। परन्तु उसी समय उसको खेत की याद आती। तब वह कहता—बेटी, कौए भुट्टा तो खा जायँगे।

नतिनी कहती—नाना, कौओं को मैं उड़ा दूँगी।

(३)

बूढ़े को सब से अधिक डर था अपनी लड़की का। उसका शासन भी बड़ा कठोर था। वह घर के काम-काज में बड़ी सावधान रहती थी।

बूढ़ा एकाग्र मन से खिलौना बनाने में लगा था। पीछे से उसकी लड़की आगई। उसकी आवाज़ सुन कर बूढ़ा उसकी ओर चश्मा उठा कर अबोध बालक की तरह ताकने लगा।

लड़की ने कहा—दूध दुहा हुआ रक्खा है। तुम सुभद्रा को यहीं लिये बैठे हो। इतनी बड़ी लड़की हो गई है, वह क्या अब खिलौना खेलेगी—या घर का काम-काज देखेगी।

बूढ़ा तुरन्त बोल उठा—नहीं, इन खिलौनो को तो मैं राजमहल में बेच आऊँगा। जिस दिन सुभद्रा का वर आवेगा उस दिन मैं उसे सोहन-माला पहनाऊँगा। उसी के लिए रुपया कमाने की फ़िक्र कर रहा हूँ।

लड़की ने विरक्त होकर कहा—राजमहल में तुम्हारे खिलौनों को कोई ख़रीदेगा भी ?

बूढ़े का सिर नीचा हो गया। वह चुप रह गया। सुभद्रा सिर हिला कर बोली—मैं देखूँगी, नाना के खिलौनों को राजमहल में कौन नहीं खरीदता।

(४)

दूसरे ही दिन सुभद्रा ने एक मोहर लाकर अपनी मा को दी और कहा—यह लो, नाना, के खिलौने का दाम।

मा ने पूछा—यह कहाँ मिली।

लड़की बोली—मैं ख़ुद राजमहल में जाकर खिलौना बेच आई।

बूढ़ा हँसते हँसते कहने लगा—बेटा, फिर भी तुम्हारा नाना अब आँखों से नहीं देख सकता या उसका हाथ काँप जाता है।

मा ने खुश होकर कहा—इसी तरह की सोलह मोहरें हो जायँ तो सुभद्रा के लिए हार बन जाय।

बूढ़ा बोला—अब कुछ चिन्ता नहीं।

सुभद्रा ने बूढ़े का गला पकड़ कर कहा—क्यों नाना, मेरे वर की भी चिन्ता नहीं है ?

बूढ़ा हँसने लगा और आँखों से आँसू की एक बूँद टपक पड़ी।

(५)

बूढ़े की युवावस्था लौट आई। वह वृक्ष के नीचे बैठ कर खिलौने बनाता था और सुभद्रा कौआ उड़ाती थी।

एक एक कर सोलह मोहरें हो गईं। सुभद्रा का हार पूरा हो गया।

मा ने कहा—अब तो वर आना चाहिए।

सुभद्रा ने बूढ़े के कान में धीरे से कहा—नाना, वर तो ठीक हो गया है।

बूढ़े ने पूछा—अच्छा ! उसे पाया कहाँ ?

सुभद्रा बोली—जिस दिन मैं खिलौना बेचने के लिये राजमहल गई उस दिन द्वारपाल ने कहा—ये खिलौने तो पुराने हो गये हैं। अब इन्हें कोई नहीं खरीदेगा। तब मैं उदास होकर लौटने लगी। मुझे उदास

देख कर एक आदमी ने कहा—मुझे ये खिलौने दो। मैं इन्हें कुछ सजादूँ तो ये बिक जायँगे। नाना, यदि तुम पसन्द करो तो मैं उसी को जयमाला पहनाऊँगी।

बूढ़े ने पूछा—वह कहाँ है ?

सुभद्रा ने कहा—वह बाहर खड़ा है।

वह भीतर आया। बूढ़े ने उसे देखते ही कहा—यही तो किशनलाल है।

किशनलाल ने बूढ़े का चरण-रज लेकर कहा—हाँ, मैं ही किशनलाल हूँ।

बूढ़े ने किशनलाल को छाती से लगा कहा—भाई, एक दिन तुमने मुझसे मेरे हाथ का खिलौना छीन लिया था। आज तुम मेरे हृदय का खिलौना छीन रहे हो।

६—स्वर्ग में भूल

वह बिलकुल बेकार था, अकर्मण्य था।

उसका कोई काम नहीं था। सिर्फ तरह तरह के शौक़ थे।

वह लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़ों पर मिट्टी डाल कर उन्हें सजाया करता था। यही एक उसका काम था।

घर में सभी उसका तिरस्कार करते थे। अपमान की हद नहीं थी। कभी कभी वह प्रतिज्ञा करता था कि मैं यह पागलपन छोड़ दूँगा। पर पागलपन उसको नहीं छोड़ता था।

कोई कोई लड़के साल भर तक बिलकुल नहीं पढ़ते। फिर भी वे परीक्षा में पास हो जाते हैं। ठीक यही दशा उसकी हुई।

सारा जीवन तो उसने बिना काम किये ही काट डाला। मृत्यु के बाद उसे ख़बर मिली कि वह स्वर्ग में स्थान पा गया है। परन्तु, भाग्य स्वर्ग-पथ में भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता। दूतों ने भूल से उसे अकर्मण्यों के स्वर्ग में न ले जाकर कर्मण्यों के स्वर्ग में रख दिया।

(२)

उस स्वर्ग में सब कुछ था, सिर्फ़ अवकाश नहीं था।

यहाँ पुरुष कहा करते थे, दम लेने की फ़ुरसत नहीं। स्त्रियाँ कहतीं थीं, मैं तो चली, काम पड़ा है। सभी कहते थे कि समय का मूल्य है। कोई भी यह नहीं कहता था कि समय अमूल्य है।

सभी कहते थे, और तो हमसे कुछ नहीं हो सकता। फिर भी सब खुश रहते थे। 'काम करते करते हैरान हो गया' यही उनकी एक बात थी।

वह बेचारा कहीं भी फ़ुरसत नहीं पाता था। किसी से भी उसका मेल नहीं खाता था। रास्ते पर वह अन्यमनस्क होकर चलता था। इससे कार्य-व्यस्त लोगों को बड़ी बाधा होती थी। चद्दर फैलाकर वह अगर कहीं बैठ कर आराम करना चाहता तो कोई आकर कहता—अरे भाई, यह खेत है। यहाँ बीज बो दिया गया है। तब उसे उठकर चला जाना पड़ता था।

(३)

रोज एक लड़की बड़ी व्यस्त होकर स्वर्ग के एक झरने के घड़े में जल भरने आती थी।

रास्ते पर वह सितार की द्रुतगति की तरह चलती थी।

वह जल्दी जल्दी बालों को सँभाल कर जूड़ा बाँध लेती थी। फिर भी दो चार अलकें उसके कपोल पर झुकी रहती थीं मानों वे उसकी आँखों की कालिमा देखने के लिए झाँक रही हैं।

वह बेकार झरने के किनारे एक ओर चुपचाप वृक्ष की तरह खड़ा रहता था।

खिड़की से किसी भिक्षुक को देख कर जिस प्रकार राजकन्या को दया आती है, उसी प्रकार उस बेकार को देखकर लड़की का हृदय दया-पूर्ण हो गया।

लड़की बोली—जान पड़ता है कि तुम्हें कोई काम नहीं है।

निश्वास लेकर उसने कहा—काम तो करूँ, पर उसके लिए समय

नहीं है।

लड़की कुछ समझ न सकी। बोली—मुझसे काम लोगे?

वह बोला—तुम्हीं से काम लेने के लिए तो मैं यहाँ खड़ा हूँ।

लड़की ने कहा—क्या काम दूँ।

वह बोला—तुम पानी भरने के लिए जो घड़े लाती हो उसमें से एक घड़ा हमको दो।

"घड़ा लेकर क्या करोगे? पानी भरोगे!"

"नहीं, मैं उस पर चित्र बनाऊँगा"। लड़की ने विरक्त होकर कहा—मैं जाती हूँ, मुझे फुरसत नहीं।

परन्तु निठल्लों के साथ कार्य-व्यस्त लोगों का कार्य किस तरह चल सकता है। रोज़ उसी झरने के पास दोनों की भेंट होती थी और रोज़ वह यही कहा करता था—मुझे अपना एक घड़ा दो। मैं उस पर चित्र बनाऊँगा।

हार मान कर लड़की ने घड़ा दे दिया।

उसको लेकर वह उस पर चित्र बनाने लगा। कितने तरह के रङ्ग थे और कितने तरह की रेखायें।

चित्र बन जाने पर लड़की ने उसको खूब ध्यान से देखा, फिर भौंहें टेढ़ी कर पूछने लगी—इसका मतलब?

वह बेकार बोला—इसका कुछ भी मतलब नहीं।

घड़ा लेकर लड़की घर चली गई। दिन में सबकी आँख बचाकर वह उसे देखा करती थी। रात में बिछौने से उठकर दिया जलाकर वह उस चित्र को देखती थी। अपने जीवन में उसने पहली बार एक ऐसी चीज़ देखी जिसका कुछ अर्थ नहीं।

दूसरे दिन जब वह झरने के किनारे आई तब उसके पैरों की द्रुतगति में एक बाधा सी पड़ गई थी, मानों वे भी चलते चलते कुछ अनमने से हो रहे हैं, कुछ ऐसी बात सोच रहे हैं जिसका कुछ अर्थ नहीं।

उस दिन भी उस बेकार से भेंट हुई।

लड़की ने पूछा—अब क्या चाहते हो ?

"तुमसे काम माँगता हूँ।"

"कौन सा काम दूँ !"

"यदि स्वीकार करो तो रङ्गीन सूत बुनकर मैं तुम्हारी बेणी बाँधने के लिए डोरा तैयार कर दूँ ॥

"उससे क्या होगा !"

"कुछ नहीं।"

तरह तरह के डोरे तैयार होने लगे। अब आइना लेकर बेणी बाँधने में लड़की को देरी होने लगी। काम पड़ा रहता था, समय चला जाता था।

(४)

देखते देखते कर्मण्यों के स्वर्ग में एक बड़ा भेद आ गया।

विज्ञ लोग चिन्तित हुए। सभा की गई। वे बोले, पहले ऐसा कभी नहीं हुआ।

स्वर्ग-दूत ने अपना अपराध स्वीकार किया, बोला—मैं भूल से एक निठल्ले को ले आया।

वह बेकार सभा में बुलाया गया। उसकी रङ्गीन पगड़ी और कमर-बन्द देखकर लोगों ने समझ लिया कि सचमुच बड़ी भूल हुई।

सभापति ने कहा—तुम्हें पृथ्वी पर लौट जाना होगा। वह अपनी रङ्गीन झोली को हिलाते हुए बोला—तब मैं चला।

लड़की बोली—मैं भी जाऊँगी।

सभापति कुछ अन्यमनस्क सा हो गया। उसने भी पहली बार एक ऐसी घटना देखी जिसका कुछ मतलब नहीं।

७—अनन्त प्रेम

(१)

उन दिनों, इसी देश में, चौदह वर्ष की एक लड़की थी। उसका

नाम था मर्तिनी। उसका अन्त काल आ गया। वह अचानक एक रोग से आक्रान्त हुई। उसके बचने की कोई सम्भावना नहीं थी। उसके मा-बाप गरीब देहाती थे। एक छोटा सा खेत और एक कुटी छोड़कर उनके पास कुछ नहीं था। यही कन्या उनका सर्वस्व थी। उस पर उनका अगाध प्रेम था। कन्या का अन्तकाल देखकर वे बड़े शोक-विह्वल हो रहे थे। विशेष विकलता का एक कारण यह था कि उनकी कुटी गाँव से बहुत दूर थी और मृत्यु के पहले गाँव का पुरोहित आ जाय, इसकी आशा नहीं थी। मा बड़ी धर्मिष्ठ थी। उसकी कन्या पुरोहित से अपने गुप्त पाप कह कर अन्त-काल में निष्कृति न पा सके, यह उसके लिए बड़ी चिन्ता की बात थी।

दोनों इसी चिन्ता में थे कि उन्होंने किसी की आवाज़ सुनी—कुछ चिन्ता की बात नहीं है।

शोकातुर होने पर भी यह आवाज़ सुनकर दोनों मुग्ध हो गये। उन्होंने देखा कि रोगिनी के बिछौने के पीछे एक स्पष्ट शुभ्र मूर्ति सी खड़ी है। उसके दो पंख हैं। उन लोगों ने फिर आवाज़ सुनी। वह मूर्ति कहने लगी—मैं मर्तिनी का रक्षक देवता हूँ। कोई भी देवता पुरोहित का स्थान ग्रहण कर पाप-प्रक्षालन कर सकता है। इसमें कोई हानि नहीं है। तुम लोग उस ओर मुँह फेर कर कोने में खड़े हो जाओ। तुम्हारी कन्या मुझसे अपने पापों का हाल बतलावेगी। वह बिलकुल निर्दोष है। क्षण भर में मेरा काम पूरा हो जायगा।

(२)

आजकल यह सम्भव नहीं है कि कोई स्त्री किसी देवदूत के सामने अपना पाप स्वीकार करे। परन्तु एक समय इसी देश में ऐसी घटना हो गई है। मर्तिनी ने अपने छोटे छोटे सभी दोषों को स्वीकार कर लिया और देवदूत उन पापों से उसको मुक्त कर उसे आशीर्वाद देने लगा। इसी समय मर्तिनी को एक और पाप की सुध आई। उसने अपनी एक सखी के पास बड़ा सुन्दर गुलूबन्द देखा था। उसे देखकर

उससे न रहा गया, उसने उसे चुरा कर छिपा लिया। इसमें दो अप-राध थे। एक तो सुन्दर गुलूबन्द पहनकर पुरुषों के चित्त आकृष्ट करने की वासना और दूसरी चोरी। देवदूत ने उसका यह अपराध सुन कर कहा—मैं नहीं जानता कि मुझे इसके लिए तुम्हें क्षमा करनी चाहिए या नहीं। वह गुलूबन्द कहाँ है?

"तकिये के नीचे।"

"उसे लौटाना होगा।"

"मैं तैयार हूँ। परन्तु मैं रोग से कातर हूँ, उठ-बैठ सकती नहीं, चलने की कौन कहे। मैं किस तरह लौटा सकूँगी। उसका घर इस खेत के दूसरी ओर है।"

देवदूत ने कहा—इसमें कोई बाधा नहीं। एक काम करो। तुम अपना रोग मुझे दो और मेरा स्वास्थ्य तुम लो। तुम्हारे बदले मैं इस बिछौने पर पड़ा रहूँगा। तुम्हारे मा-बाप जान नहीं सकेंगे। मैं अपने पंख को चद्दर के नीचे छिपा रक्खूँगा।

मर्तिनी बोली—आपकी जो आज्ञा। मैं वही करूँगी जो आप कहेंगे।

"परन्तु मैं तुम्हें सावधान किये देता हूँ। रास्ते में देरी मत करना। बात यह है कि अगर तुम्हारे आने में देरी हुई और तुम्हारे आने के पहले तुम्हारे मृत्यु-काल का डंका बज गया तो मैं संकट में पड़ जाऊँगा। तुम्हारी जगह मुझे मरना पड़ेगा।

लड़की बोली—इसकी चिन्ता मत कीजिए। मैं कभी आपको ऐसे संकट में नहीं डालूँगी। मैं पल भर में लौट आऊँगी।

देवदूत की कृपा से स्वास्थ्य पाकर मर्तिनी खाट से उठ गई। वह चुपचाप कपड़े पहन कर तुरन्त धीरे से दरवाजा खोल कर घर के बाहर हुई।

(३)

कितनी ही झाड़ियों और खंदकों को पार कर मर्तिनी जल्दी जल्दी जाने लगी। यद्यपि रात अँधेरी थी तो भी वह अच्छी तरह रास्ता

जानने के कारण भटकी नहीं। वह शीघ्र ही अपनी सखी के घर पहुँच गई। उसने धीरे से दरवाज़ा खोला और भीतर जाकर सन्दूक में गुलूबन्द को बन्द कर दिया। सौभाग्य से उस समय कोई वहाँ नहीं था। गुलूबन्द रख कर मर्तिनी घर लौटी। सच्ची बात कहनी होगी। लौटते समय उसकी गति मन्द पड़ गई। तब क्या वह देवदूत को स्वास्थ्य लौटाना नहीं चाहती थी ? नहीं, यह बात नहीं थी। मर्तिनी की पारलौकिक सद्गति के लिए देवदूत ने जो उपकार किया था उसे वह भूल नहीं गई थी और न वह अपनी प्रतिज्ञा को ही भूली थी। परन्तु वह बिलकुल थक गई थी। इसी समय चन्द्रोदय हुआ और एक कोयल बोल उठी—कुहू-कू। मर्तिनी के पैर रुक गये। चन्द्रमा के इस शीतल प्रकाश में कोयल की यह मधुर ध्वनि सुनकर कौन नहीं मुग्ध होगा। वह सोचने लगी--कल भी चन्द्रोदय होगा। कल भी आकाश में यही तारे उदित होंगे। परन्तु वह यह शोभा न देख सकेगी। वह अपने उसी बिछौने पर चिरनिद्रा में पड़ी रहेगी। यह बात सोच कर उसे बड़ा विषाद हुआ। परन्तु पलभर में विषाद दूर कर वह तेज़ी से चलने लगी। कुटी दिखाई देने लगी। इतने में बेला की मधुर ध्वनि सुनाई दी। उसी की कुटी के दूसरी ओर एक घर में गाँव भर के लोग एकत्र थे। नाच हो रहा था। मर्तिनी रुक गई। वह मुग्ध होकर सङ्गीत सुनने लगी। फिर उसने सोचा—अब मेरा घर तो दूर है नहीं। एक बार मैं भी नाच लूँ। बस, यही अन्तिम बार है। देवदूत को अवश्य कष्ट होगा। देरी करना अच्छा नहीं। परन्तु एक बार नाच लेने में क्या हानि है।

(४)

एक नाच के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इसी तरह मर्तिनी नाचती ही गई। प्रत्येक नाच के पहले मर्तिनी कहती—बस, यह अन्तिम है। अब मैं मरने के लिए जाऊँगी। परन्तु जब नृत्य का सङ्गीत प्रारम्भ होता तब उसमें इतना मनोबल नहीं था कि उसे छोड़ कर वह चली जाती। उसे अनुपात होता था। परन्तु वह कुछ कर नहीं सकती थी।

दो बज गये। तब तो मर्तिनी दृढ़ निश्चय कर नृत्यशाला के बाहर जाने लगी। इसी समय एक सुन्दर युवक उसके सामने आ कर खड़ा हुआ। इतना सुन्दर युवक मर्तिनी ने पहले कभी नहीं देखा था। वह गाँव का किसान नहीं था, न ज़मींदार था। वह था राजा। रास्ता भूल जाने के कारण वह इधर निकल पड़ा था। मर्तिनी को देख कर वह उसपर मुग्ध हो गया। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो गये। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। दोनों स्तम्भित से रह गये। अन्त में राजा ने उसे अपना हृदय अर्पण कर दिया। मर्तिनी अपनी प्रतिज्ञा न भूलकर भी भूल गई। वह राजा के साथ गाड़ी में बैठ कर चली गई। परन्तु जाते समय उसे यह सोचकर बड़ा विषाद हुआ कि देव-दूत मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ उसकी राह देख रहा है।

(५)

मर्तिनी रानी हो गई। उसका वैभव अपरिमित था। बड़े बड़े महल थे। नित्य एक न एक उत्सव होता रहता था। उसके सौन्दर्य की बड़ी ख्याति थी। वह बहुमूल्य गलीचे पर चलती थी, बहुमूल्य वस्त्र पहनती थी और बहुमूल्य अलङ्कार धारण करती थी। परन्तु यह वैभव उसको विमुग्ध नहीं कर सका। राजा के प्रति उसका जो प्रेम था और उसके प्रति राजा का जो प्रेम था उसी से वह मुग्ध थी। उसके इस प्रेम की कोई तुलना नहीं है। उन दोनों को ऐसा मालूम होता था कि संसार में उन्हें छोड़ कर और कोई तीसरा है ही नहीं। मर्तिनी देवदूत को बिलकुल ही भूल गई। इस सुख-सागर में डूब कर उसे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव करने का अवसर ही नहीं मिला। दूत की बात अतीत की बात हो गई। अतीत की कोई भी बात उसे चिन्तित नहीं कर सकती थी। वह प्रतिदिन निश्चिन्त होकर सोती थी। किन्तु एक दिन एक भयानक घटना हो गई। राजा अचानक अन्तर्हित हो गये। कोई यह न जान सका कि वे कहाँ गये। किसी ने उन्हें नहीं देखा उनका एक दम लोप हो गया।

(६)

जब मर्तिनी पर यह वज्राघात हुआ, जब वह अकेली होगई, तब उसे देवदूत की सुधि आई। देवदूत ने न जाने कितने दिनों तक उसकी राह देखी होगी। न जाने कितना कष्ट भोगा होगा और वही देवदूत की मृत्यु का कारण हुई। मर्तिनी अपने को धिक्कारने लगी। अन्त में एक दिन वह दरिद्र का वेश धारण कर अपने पुराने गाँव की ओर चली। वह जानती थी कि उसने जो अपराध किया है उसका कोई प्रतिकार नहीं है, वह केवल उस पुण्यस्थान को देखना चाहती थी जहाँ देवदूत ने उसके लिए मृत्यु की यन्त्रणा सही। घर पहुँचने पर उसने देखा कि उसका घर बिलकुल टूट-फूट गया है। पड़ोस के लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि कन्या की मृत्यु हो जाने पर उसके मा-बाप घर छोड़ कर चले गये। कहाँ गये, उसका पता किसी को नहीं था। पहाड़ के नीचे जो श्मशान भूमि है वहीं उसकी कन्या की क़ब्र है। यह सुनकर मर्तिनी को यह निश्चय होगया कि मेरे स्थान में देवदूत ही क़ब्र में रक्खा गया। मर्तिनी ने सोचा—जाऊँ एक बार देवदूत के समाधि-स्थान पर जाकर प्रार्थना करूँ। जब यह श्मशान भूमि में पहुँची तब उसने देखा कि एक छोटी सी क़ब्र पर एक क्रास के नीचे लिखा हुआ था—मर्तिनी। मर्तिनी का हृदय व्यथा से फटने लगा। वह रोती रोती प्रार्थना करने लगी भगवन्! मुझसे कैसा पाप हुआ। अचानक किसी की आवाज़ सुनाई पड़ी। मर्तिनी चकित होकर सुनने लगी। किसी ने कहा—मर्तिनी, हताश मत हो। तुम जितना बुरा समझती हो उतना बुरा नहीं हुआ है।

मर्तिनी ने सिर उठा कर देखा कि क्रास के पास एक शुभ्र स्पष्ट मूर्ति खड़ी है। मूर्ति ने कहा—मैं तुम्हारा रक्षक देवता हूँ। तुम देखती हो, मैं सशरीर उपस्थित हूँ। अब तुम इस क़ब्र में जाकर सोओ, मैं तुम्हारी आत्मा को स्वर्ग ले जाऊँगा।

"मेरे रक्षक देव, तुमने मेरे लिए न जाने कितना कष्ट सहा होगा।"

"नहीं मैं जानता था कि तुम लौट नहीं सकोगी। इससे मैं भी

तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे पीछे पीछे रवाना हुआ। और जब तक तुम्हारी समझ में मुझे क़ब्र में रहना पड़ा तब—"

"तब तक तुम कहाँ थे?"

"तब तक, हे हृदयेश्वरी, मैं अपने महल में था। वहाँ तुम मुझे कितना प्रेम करती थी। अब स्वर्ग में भी तुम मुझ पर यही स्नेह रक्खोगी।"

८—निष्क्रिय प्रतिरोध

पराजित देश का एक व्यक्ति अपने देश की विजय का उपाय सोचने लगा। बहुत सोच-विचार कर अन्त में उसने यह निश्चय किया कि अब तक मैंने बल-प्रयोग से अन्याय का प्रतिरोध करने की चेष्टा की है। अब मैं अपनी यह चेष्टा छोड़ दूँगा। देखूँ, धैर्य और सहिष्णुता से जय-लाभ कर सकता हूँ या नहीं।

यह व्यक्ति दुर्बल-चरित्र का मनुष्य नहीं था। उसे अपने निश्चय से कोई भी नहीं हटा सकता था। एक बार वह जो निश्चय कर लेता था उसी पर वह दृढ़ रहता था। इस बार भी वह ऐसी ही दृढ़ प्रतिज्ञा कर अपना कार्य करने लगा।

उस देश को जिस राजा ने पराजित कर स्वायत्त किया था उसका नाम था इजमन। उसने नगर के कुछ विशेष लोगों पर देख-रेख करने के लिए अपने नौकरों को आज्ञा दी थी। उन लोगों ने राजा से जाकर निवेदन किया—महाराज, एक आदमी का रङ्ग-ढङ्ग बड़ा विचित्र है। वह न तो कभी बाहर जाता है और न किसी से मिलता-जुलता है। जान पड़ता है कि वह अधिकारियों को इस धोखे में रखना चाहता है कि वह नगर छोड़ कर चला गया है।

राजा ने क्रुद्ध हो कर आज्ञा दी—अच्छा, उसे अभी पकड़ कर हमारे पास ले आओ।

राजकर्मचारियों ने तुरन्त ही उसे पकड़ कर राजा के सम्मुख उप-

स्थित किया। राजा ने आज्ञा दी—देखो, उसके पास क्या है।

उसके पास ऐसी कोई भी मूल्यवान चीज़ नहीं थी। जो कुछ चीज़ें थीं वे सब राजा के पास पहुँचा दी गईं।

जब वह व्यक्ति राजा के सामने आया तब राजा उसका रङ्ग-ढङ्ग देख कर समझ गया कि यह मामूली आदमी नहीं है। तो भी उसे डराने के लिए उन्होंने गरज कर कहा—देखता हूँ, तुम आ गये हो।

उस व्यक्ति ने शान्त-भाव से उत्तर दिया—हाँ, आ गया हूँ। मेरे पास जो कुछ था सब लेकर आया हूँ। कुछ भी नहीं छोड़ा।

राजा ने पूछा— अच्छा, अब तुम क्या करते हो?

उसने कहा—मैं तो कुछ नहीं करता। परन्तु मैंने अब यह निश्चय किया है कि सहिष्णुता से ही मैं जय प्राप्त करूँगा।

राजा जल उठा, क्रुद्ध स्वर से बोला—अच्छा, अभी तुम्हारी जय-प्राप्ति की लालसा बनी ही है।

उसने कहा —हाँ, यह लालसा तो बनी ही रहेगी। अन्याय पर विजय प्राप्त करनी ही होगी।

राजा ने कहा --यह धृष्टता। चुप रह, मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहता। उसने कहा—मैं तो आपकी बात नहीं कहता हूँ। मेरा मतलब यह नहीं है कि मैं आपके ऊपर जय-प्राप्त करूँ।

राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—तब तुम किसे जीतना चाहते हो?

वह बोला—मैं अपने ही को जीतना चाहता हूँ।

राजा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—अभी तो तुमने कहा है कि मैं अन्याय का दमन करना चाहता हूँ। वह अन्याय क्या है?

व्यक्ति— प्रतिरोध और प्रतिघात की चेष्टा।

राजा—झूठी बात।

व्यक्ति—मैं झूठ कभी नहीं बोलता।

भय और विस्मय से राजा के मस्तक पर पसीने की बूँदें दिखाई

देने लगीं। राजा सोचने लगा—माजरा क्या है? इस आदमी को हो क्या गया है उन्होंने फिर पूछा—तुम चाहते क्या हो? उसने कहा—मैं कुछ नहीं चाहता।

"सच?"

"सच।"

ओठ के ऊपर ओठ दबा कर राजा सोचने लगा—तभी तो।

राजा बड़ा भावुक था। उसमें यथेष्ट स्फूर्ति थी। परन्तु वह किसी की धृष्टता नहीं सह सकता था। यह उसके लिए असह्य था कि कोई किसी भी विषय में उसे बाधा देने की चेष्टा करे। इसी से प्रतिरोधकारियों का प्रतिरोध कितना ही तीक्ष्ण क्यों न हो, सबका दमन कर देता था। परन्तु अब विद्रोहियों का विषदन्त टूट गया है, अब वह निश्चिन्त हो गया है। तो भी इससे वह तुष्ट नहीं हुआ।

कुछ देर बाद के उसने फिर उस व्यक्ति से पूछा—कुछ दिनों के पहले तो तुम्हारा कुछ दूसरा ही मतलब था। अब तुम्हारा मत कैसे बदल गया? क्या कारण है।

उसने उत्तर दिया—कारण कुछ नहीं है। यह तो मनुष्य की मानसिक अवस्था का स्वाभाविक विकास है।

राजा ने कहा—हाँ, भाई, ठीक कहते हो। हमारा जीवन तो इसी प्रकार का है। आज उसकी गति एक ओर है तो कल दूसरी ओर। अपना पथ हम स्वयं निश्चित नहीं कर सकते। व्यर्थ एक पथ से दूसरे पथ में भटकते फिरते हैं।

इस बात को इजमन ने कुछ दुःख से कहा। वह जानता था कि अपनी मातृभूमि को पराधीन देख कर इस व्यक्ति को बड़ा दुःख होता होगा। पर उसका सन्देह दूर नहीं हुआ। वह सोचने लगा, प्रजा का यह शान्ति-प्रिय व्यवहार देखने में तो अच्छा लगता है, परन्तु यदि समस्त देश निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रवृत्त हो जाय तो हमारा राज्य किस प्रकार चलेगा? प्रजा-शासन, कर संग्रह ये सब कैसे सम्पन्न होंगे?

मन्त्रणा-सभा, विचारालय आदि तो बन्द हो जावेंगे। इसका मतलब क्या है ? एक बार इसकी परीक्षा करके तो देखें।

राजा ने नौकरों को हुक्म दिया— देखो, रोज़ इसी आदमी से हमारा अस्तबल साफ कराओ।

राजा की आज्ञा का पालन हुआ। वह प्रतिदिन चुपचाप अस्तबल साफ करने लगा। राजा उसका धैर्य और सहिष्णुता देखकर अवाक् रह गया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने उसको इससे भी कड़ा काम दिया। परन्तु उसको भी उसने अक्लान्त भाव से सम्पन्न किया। श्रद्धा से राजा का हृदय भर गया। इतना विद्वान् और शिक्षित होकर भी वह नीच से नीच काम को सहर्ष कर लेता है। राजा ने उस व्यक्ति को बुला कर कहा—मैं तुम पर पूरा विश्वास करता हूँ। जाओ, अपने देशवासियों में अपने सत्य का प्रचार करो।

इसके थोड़े ही दिनों के बाद वह व्यक्ति समस्त देश का श्रद्धा-भाजन हो गया। सभी ने उसको नेता स्वीकार कर लिया। वह जो कहता था वही उनके लिए वेद-वाक्य था। सभी लोग उसकी नीति का अनुसरण कर निश्चेष्ट हो गये। जिसकी जो इच्छा हो करे, वे किसी को नहीं रोकते थे। चोर उनका सर्वस्व ले जाय, वे उसको बाधा नहीं देते थे। किसी का कोई कर्तव्य भी है, यह बात वे सब भूल गये।

उसने कहा—शास्त्र में लिखा है कि मनुष्य का जीवन बड़ा दुःख-मय है। वासना तो जीवन को और भी दुःखमय करती है। दुःख दूर करने के लिए सभी वासनाओं को वर्जित करना होगा। जब हमारे जीवन में किसी प्रकार की वासना नहीं रहेगी तभी हमारी ग्लानि दूर होगी।

यह सुन कर सब लोगों ने कहा—यह बात बिलकुल ठीक है। वासना-निवृत्ति के साथ हमारे सभी कर्म शान्त होंगे। फिर किसी प्रकार की आवश्यकता हमें न रहेगी।

कुछ दिनों के बाद इजमन ने देखा कि उसके चारों ओर गम्भीर

शान्ति है। विस्मित होकर इजमन सोचने लगा—ये सब बड़े दुष्ट हैं, हमें धोखा देना चाहते हैं।

इसी बीच देश भर में कीड़े-पतिङ्ग छा गये। कोई उन्हें मारता नहीं था, त्रास तक नहीं देता था।

एक दिन इजमन ने एक नौकर को बुलाकर कहा—इन कीड़ों को हटाओ।

उसने कहा—महाराज, मैं इन्हें नहीं हटा सकता।

राजा ने कहा—क्यों?

वह बोला—उनके भी तो प्राण है। उन्हें मारने से क्या अच्छा होगा?

इजमन ने क्रुद्ध होकर कहा—मेरी बात नहीं सुनोगे तो मैं तुम्हारा सिर कटा लूँगा।

नौकर ने विनीत भाव से उत्तर दिया—महाराज की जैसी इच्छा हो।

उस दिन से सभी काम इसी प्रकार होने लगे। जब इजमन किसी से कुछ कहता तब वह यही उत्तर देता—महाराज की जैसी इच्छा हो। परन्तु कार्य के समय पर कोई काम नहीं करता था। तब उसकी आज्ञा का पालन कौन करता?

राज्य के सभी काम एक एक कर बन्द हो गये। सभी की कर्म-शक्ति लुप्त हो गई। बैठे बैठे थक कर सभी सोने लगे। आलस्य का यह भार इजमन के लिए असह्य हो गया। वह पहले की बातें सोचता था। कैसे अच्छे दिन थे। कितना काम था। प्रजा विद्रोह करती थी और उसका दमन करना पड़ता था। आज यहाँ सैन्य भेजो और कल वहाँ सैन्य भेजो। परन्तु अब तो सारे देश में आलस्य छा गया है। आज समग्र जाति ध्वंसोन्मुख है। इसका क्या परिणाम होगा। अन्य देशों को देखो, वे कैसी उन्नति कर रहे हैं। हमारी क्या दशा है।

इजमन अधिक सोच नहीं सका। वह नगर में एक एक के घर

जाकर उनका हाथ पकड़ कर कहने लगा—उठो, यह तुम क्या कर रहे हो ! इस प्रकार निराश और निश्चेष्ट पड़े रहने से लाभ क्या ?

परन्तु निर्जीव और मृतप्राय देशवासियों ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप पड़े रहे।

इजमन ने दूसरा उपाय सोचा, वह एक एक के कान के पास जा कर कहने लगा—देखो, तुम्हारा सर्वनाश उपस्थित है। तुम्हारे देश पर शत्रु चढ़े आ रहे हैं। उनको रोको।

क्षीण स्वर में एक ने कहा—देश-रक्षा भगवान् के हाथ में है। हम क्या कर सकते हैं।

इजमन ने चीत्कार करके कहा—एक बार उठ कर देखो तो, तुममें कुछ रोकने की शक्ति है या नहीं।

यह बात सुन कर उनमें से एक बोला—रोकने की ज़रूरत ही क्या है ? किसको रोकें।

यही मनुष्य पहले अपने बाहुबल के लिए विख्यात था।

इजमन का धैर्य छूट गया। वह पागल की तरह चिल्ला कर कहने लगा—दुहाई तुम्हारी। तुम कुछ भी तो करो। विद्रोह करो, हत्या करो, जो तुम्हारी ख़ुशी हो करो। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। कुछ करो तो। परन्तु किसी ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। सब वैसे ही निश्चेष्ट पड़े रहे।

इजमन की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने कहा—निष्क्रिय प्रजा को मैं किस प्रकार जागृत करूँ। एक बार उठ कर देखो, इतिहास में निष्क्रिय प्रतिरोध से किसी भी देश या जाति का कल्याण नहीं हुआ है। मैं अकेला क्या करूँ। कौन मेरी सहायता करेगा।

कहीं से कुछ शब्द नहीं आया। सर्वत्र शान्ति और निस्तब्धता बनी रही। कान्तिहीन दृष्टि से सब ताकते रहे।

इसी प्रकार धीरे धीरे समस्त जाति काल के मुख में पड़ कर लुप्त हो गई। अन्त में इजमन ने भी प्राण छोड़ दिया। मरते समय

उसने कहा—शक्ति-हीन कर्मोन्माद अच्छा नहीं है, परन्तु निष्क्रियता के अनुष्ठान में भी संयम चाहिए। तभी जाति की अन्तःशक्ति बढ़ती है।

९—उन्मादिनी

मेरे मित्र डाक्टर बनेट ने कितने ही दिनों से रायांते आने के लिये निमन्त्रण दे रक्खा था। परन्तु काम के कारण मुझे वहाँ जाने का कभी मौका नहीं मिला। अन्त में एक बार वहाँ जाना मैंने निश्चय किया। जिस दिन मैं रायांते पहुँचा उस दिन खूब कुहरा था। प्लेट-फ़ार्म पर मेरे मित्र डाक्टर बनेट मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे। उनके साथ गाड़ी पर बैठ कर मैं उनके घर गया। काफी पी लेने के बाद मेरे मित्र ने कहा—चलो, थोड़ा घूम आवें।

छोटे छोटे पहाड़ों के किनारे घूम कर रास्ता गया था। बीच बीच में दो चार घर थे। उनके आस-पास फलों और फूलों के उद्यान थे। दृश्य सचमुच रमणीय था। एक मकान के पास खड़े होकर डाक्टर ने कहा—यहाँ थोड़ा रुक जाओ। मैं एक रोगी को देख आऊँ। इतना कह कर वह घर के भीतर चला गया।

उस घर की बनावट में कुछ बिलक्षणता थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह गम्भीरता की मूर्ति है। वह जीर्ण हो गया था। उसमें एक भी खिड़की नहीं थी। दीवारें बीच बीच में टूट-फूट गई थीं। घर को देखने से यही भाव उदित होता था कि मानों किसी ने किसी को इसमें बन्द कर रक्खा है। उसे बाहर के किसी भी मनुष्य को देखने की आज्ञा नहीं है। जब डाक्टर लौट कर आया तब मैंने उससे उस घर के विषय में पूछा।

डाक्टर ने कहा—तुम्हारा अनुमान बहुत कुछ ठीक है। अब इस घर की बन्दिनी बाहर के किसी भी आदमी को नहीं देख सकती। वह बिलकुल पगली हो गई है। उसमें अब ज़रा भी ज्ञान नहीं है। उसकी कहानी सुनोगे? मेरे राज़ी होने पर डाक्टर कहने लगा—

बीस वर्ष से पहले की बात है। मैंने डाक्टरी शुरू ही की थी। उसी समय इस घर के स्वामी ने आकर मुझे अपने लड़की की चिकित्सा करने को कहा।

लड़की का नाम था बार्था। उसकी उम्र सात-आठ साल की थी। वह बड़ी सुन्दर थी। परन्तु वह बिलकुल नहीं बोल सकती थी। यही उसका रोग था। जब वह बहुत छोटी थी तभी वह चलना फिरना सीख गई थी। परन्तु उसके मुख से कभी कोई शब्द स्पष्ट नहीं निकला। लोगों ने समझा कि वह कानों से सुन नहीं सकती। परन्तु परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि वह सुन तो अच्छी तरह लेती है। उसकी वाक्शक्ति-हीनता-का कारण था मस्तिष्क का विकार।

क्रमशः बार्था बड़ी होने लगी। मैंने चिकित्सा-शास्त्र के सभी बड़े बड़े ग्रन्थ छान डाले और उसको कितने ही दवायें दीं, परन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। पहले वह अपनी धाई को पहचान लेती थी, परन्तु अवस्था बढ़ने पर उसका वह ज्ञान भी लुप्त हो गया। माँ को पहचानना तो दूर रहा, उसने कभी अपने मुँह से मां भी नहीं कहा। कभी कभी वह कुछ बोलने की चेष्टा करती थी। परन्तु उसके मुख से केवल अर्थ-हीन शब्द निकलता था।

परन्तु एक विषय में मैंने उसकी कुछ विशेषता देखी। वह विशेषता यह थी कि प्रकृति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से उसके भावों का सामञ्जस्य था। जब आकाश स्वच्छ रहता तब वह पक्षी की तरह आनन्द से बोलती थी। परन्तु यदि आकाश मेघाच्छन्न हुआ तो वह उदास हो जाती थी। जब सूर्य की किरणें घर में प्रवेश करतीं तब वह ताली पीट कर उछलती थी।

अन्त में मैंने उसकी बुद्धि को बढ़ाने के लिए एक दूसरा ही उपाय सोचा। जब वह खाने के लिए बैठती तब उसको दूसरा कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था। वह दिन-रात खाना चाहती थी। कब खाने का समय आयगा, इसके लिए वह सदैव व्यग्र रहती थी और इसी से अन्त में

वह खाने का घंटा पहचान गई। तब मैंने उसे घड़ी का कांटा दिखला कर यह बतला दिया कि किस जगह कांटा आने पर खाने का समय आता है। इस तरह वह घड़ी देखना सीख गई। तब उसका यह काम हो गया कि वह घड़ी की ओर बराबर ताकती रहती थी। कब किस घड़ी का कांटा बजने से खाने का समय आ गया, इसे वह अच्छी तरह समझ गई थी। एक बार घड़ी के बजने का स्प्रिङ्ग बिगड़ गया। इसी से वह नहीं बजा। तब वह सब कुछ छोड़ कर उसी घड़ी को लेकर देखने लगी। जब वह किसी प्रकार नहीं बजा तब उसने उस घड़ीको तोड़ डाला। यह देखकर मैं समझ गया कि उसमें धारणा-शक्ति है, परन्तु वह बहुत क्षीण है। कुछ समय के बाद बार्था में एक परिवर्तन हुआ। वह अब लड़की नहीं रही, युवती हो गई। यौवन के उन्मेष से उसके स्वभाव में परिवर्त्तन न होने पर भी उसके शरीर में बड़ा परिवर्तन हो गया। यों तो बाल्यावस्था में ही वह सुन्दर थी। परन्तु अब उसके शरीर से लावण्य फूटने लगा। उसका सुगठित अङ्ग-सौष्ठव, दृढ़ और चपल गति, उज्ज्वल और भीरु नेत्रों की शून्य और चञ्चल दृष्टि देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाता ने सुन्दरता को मूर्तिमती कर पृथ्वी पर घूमने के लिए छोड़ दिया है।

एक दिन बार्था के पिता ने आकर मुझसे कहा कि मैं बार्था का विवाह कर देना चाहता हूँ। पहले तो उसका यह प्रस्ताव सुनकर मैं अवाक् हो गया। परन्तु बार्था के पिता ने कहा—देखिए, मैंने सब कुछ करके देख लिया। किसी से कुछ नहीं हुआ। सम्भव है कि विवाह हो जाने पर स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होने पर उसका ज्ञान बढ़े। मैंने वर भी ठीक कर लिया है। उसका नाम है गास्तों लूसेल। वह राजी हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि रुपये और रूप के लोभ से वह विवाह के लिए तैयार हुआ है। परन्तु किया क्या जाय। आपकी क्या राय है?

मैं क्या उत्तर देता, चुप रहा। परन्तु जब बार्था का पिता चला गया तब मैंने देखा कि उसका कथन उचित ही है। परन्तु इतना मैं

समझ गया कि गास्तों बिलकुल पशु हैं।

अन्त में एक दिन बार्था का विवाह हो गया। विवाह में धूम-धाम नहीं हुई। बार्था को विवाह के समय कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। उस समय वह घड़ी देखने में और भोजन के समय खाने में व्यस्त रही। पोशाक देख कर भी कुछ कौतूहल नहीं हुआ।

विवाह के बाद मैं प्राय: उनके घर जाया करता था। गास्तों ने अपनी स्त्री के आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न की। वह उसे सदैव प्रसन्न रखने की चेष्टा करता। पहले पहल तो बार्था ने उस पर कुछ ध्यान नहीं किया। किन्तु दो चार महीनों के बाद उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन होने लगा। वह अपने पति को पहचानने लगी। अच्छे भोजन की ओर उसका जिस प्रकार का आग्रह देखा जाता था कुछ कुछ वैसा ही भाव गास्तों के प्रति होने लगा। जान पड़ता था कि यहीं प्रेम का सूत्रपात हुआ। इसके बाद वह अपने पति के हाव-भाव और रङ्ग-ढङ्ग को बड़ी उत्सुकता से देखने लगी। सीढ़ी पर उसके पैर की आहट पाते ही वह व्यग्र होकर दरवाज़े की ओर ताकने लगती थी। प्रेम की ज्योति से उसकी शून्य दृष्टि उज्ज्वल हो गई और सुख और स्नेह के कारण उसके शरीर की एक नई शोभा हो गई।

बार्था अपने पति को अपना सर्वस्व देकर चाहने लगी। पति-प्रेम में उसकी दुर्बल आत्मा का अस्तित्व विलुप्त हो गया। मुझे एक दिन की बात याद है। उस दिन आकाश में मेघ खूब घिर आये थे। सन्ध्या के समय अन्धकार बढ़ने लगा। उस समय बार्था भयभीत हो गई। गास्तों ने उसे सान्त्वना देने के लिए अपना हाथ फैलाया। तब बार्था ने उसकी छाती में अपना मुख इस प्रकार छिपा लिया जिस तरह पक्षी का बच्चा अपनी मा के परों में अपना मुख छिपा लेता है। उस समय उसके मुख पर एक असीम आनन्द का भाव उदित होता था। उसका नीरव और निर्बोध हृदय आनन्द के आवेश में तन्मय हो गया था। उसके इस मूक प्रेम की सरलता देखकर प्रेमिकाओं का हाव-

भाव बिलकुल तुच्छ प्रतीत होता था, क्योंकि उस हाव-भाव में प्रेम की वह गम्भीरता नहीं रहती जो उसके प्रेम में प्रकट होती थी।

किन्तु थोड़े ही दिनों में गास्तों का प्रेम घटने लगा। इस मूक नारी की लीला-हीन सरलता से उसे विरक्ति होने लगी। वह आमोद-प्रमोद के लिए शहर जाने लगा। अन्त में यह हुआ कि उस निस्सहाय अबला के पास वह एक घण्टे से अधिक नहीं ठहरता था। परन्तु इससे बार्था का प्रेम बढ़ने लगा। वह रात भर घड़ी लेकर अपने स्वामी की प्रतिक्षा में बैठी रहती थी। कोई भी शब्द होने पर वह चौंक कर बड़ी उत्सुकता से दरवाज़े की ओर दौड़ कर जाती। अभागिनी यह नहीं जानती थी कि उसका भाग्य फूट गया है।

क्रमशः वह रोग-ग्रस्त होने लगी। न वह खाती और न सोती थी। उसके मन में कोई दूसरी अनुभूति नहीं थी। सभी आशाओं, सभी चिन्ताओं और सभी वासनाओं के अतीत वह एक-मात्र अपने स्वामी को ही अचल जानती थी। स्वामी का यह अदर्शन उसे असह्य हो गया कभी कभी रात के अन्त होने पर गास्तों घर लौटता था। उस समय बार्था का अनिद्र और अनाहार से शुष्क मुख आनन्द से खिल उठता था। उसने अपराधी पति से कभी कुछ नहीं कहा, केवल मूक, कातर तिरस्कार-युक्त दृष्टि से वह घड़ी की ओर देखती।

इसके बाद एक दिन मैंने सुना कि गास्तों ने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया है। अपनी स्त्री को छोड़ कर वह न जाने कहाँ चला गया। विरह की तीव्रता से वह पगली हो गई। उसका यह पागलपन अभी तक दूर नहीं हुआ है। परन्तु अभी तक वह अपने स्वामी को नहीं भूली है। वह सभी समय एक घड़ी को ताकती बैठी रहती है। एक बार परीक्षा के लिए मैंने उस घड़ी को हटाने की चेष्टा की। उस समय वह इतनी विकल हो गई कि मैंने घड़ी को जहाँ का तहाँ रख दिया। उसके मुख की कान्ति नष्ट हो गई। वह बिलकुल बूढ़ी सी जान पड़ती है।

डाक्टर इतना कह कर रुक गया। मैंने पूछा—उसके मा-बाप कहाँ

हैं। डाक्टर ने कहा—वे पहले ही मर गये।

हम लोग एक पहाड़ की चोटी पर जाकर बैठ गये। मैंने नीचे देखा, हरी भरी पृथ्वी दूर तक फैली हुई थी। दूसरी ओर दृष्टि फेरी तो पर्वतों की श्रेणी दिखलाई दी। एक ओर निस्तब्ध पृथ्वी थी और दूसरी ओर मूक-पर्वत-श्रेणी। मुझे ऐसा जान पड़ा कि इस निस्तब्ध भूमि में उस मूक उन्मादिनी की व्यथित आत्मा का नीरव आर्तनाद व्याप्त हो रहा है।

१०—टेरसा

मैं तब मास्को के एक कालेज में पढ़ता था। मेरी स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। इसी से मैं एक छोटे होटल में रहता था। वहाँ सभी तरह के स्त्री-पुरुष रहते थे।

कोठे पर एक कमरे में मैं रहता था। मेरे कमरे के सामने ही एक दूसरा कमरा था। उसमें एक स्त्री रहती थी। वह पोलेंड की थी। स्त्रियों को कुरूपा कहना औचित्य की सीमा के बाहर है। तो भी वह ऐसी नहीं थी कि किसी पुरुष का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो। उसका लम्बा शरीर था। शरीर में कोमलता नहीं थी। परन्तु वह खूब मजबूत थी। आँखें बड़ी तीव्र थीं। आवाज़ भी तेज थी। उसका रङ्ग-ढङ्ग पुरुषों की तरह था। सच तो यह है कि उसे देखते ही मुझे कुछ डर सा लगता था। जब तक वह अपने कमरे में रहती थी तब तक मैं अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द रखता था। गनीमत इतनी थी कि वह अपने कमरे में कम रहती थी। कभी कभी सीढ़ी पर उससे भेंट हो जाया करती। और तब प्रायः वह हँसकर मुझसे पूछ बैठती थी—कहो छोटे बाबू, क्या हाल है? अच्छे तो हो? उसका यह हँसना मुझे बड़ा बुरा लगता था। कह तो मैं कुछ सकता नहीं था, क्योंकि वह स्त्री थी। अपने मन के भाव को किसी तरह दबाकर मैं दूसरी ओर मुँह कर चला जाता था। मेरी घृणा बढ़ती ही जाती थी। कभी कभी यह इच्छा होती थी

कि मैं कमरा बदल लूँ, परन्तु मेरा यह कमरा ऐसे अच्छे मौके पर था कि उसे छोड़ने को जी नहीं होता था। इसीसे मुझे उस स्त्री की सभी बातें चुपचाप सह लेनी पड़ती थीं।

एक दिन मैं आराम से कोच पर लेटा हुआ था। एकाएक मेरे कमरे का दरवाज़ा खुल गया। मैंने चौंक कर देखा कि दरवाज़े पर मेरी वही पड़ोसिन स्त्री खड़ी है। उसने उसी भद्दे स्वर से कहा—"कहो छोटे बाबू, क्या हाल है ?" मैंने उत्तर दिया—आपको कुछ काम है क्या ?

आज उसका चेहरा कुछ बदला हुआ था। वह उतना कठोर नहीं था। ऐसा जान पड़ता था कि उसमें कुछ कोमलता आ गई है। उसने कहा, तुमसे मुझे एक प्रार्थना करनी है। मानो तो कहूँ।

सुनकर मैं सोचने लगा कि इसका क्या मतलब है, कुछ बुरे उद्देश से तो यह नहीं आई है। इसी सोच-विचार में मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, चुपचाप कोच पर लेटा ही रहा। वह स्त्री बड़ी नम्रता से कहने लगी--मुझे एक चिट्ठी लिखानी है, लिख दोगे ?

अब तो कुछ उपाय न था। मैंने अपने मन में कहा—हराम-जादी घड़ी भर आराम भी नहीं करने देती। परन्तु उठकर मैं टेविल के पास बैठ गया और काग़ज़ लेकर बोला—कुर्सी पर बैठ जाइए। आप कहते जाइए, मैं लिखता जाऊँगा।

वह एक कुर्सी पर बैठकर मेरी ओर कुछ ऐसे ढङ्ग से देखने लगी कि मानो वह कोई अपराध कर रही हो।

मैंने पूछा—किसको लिखना होगा ?

वह बोली—बोल्सलाव कैसपुटक स्विट्सियाना वार्सरोड ?

मैंने कहा—अच्छा क्या लिखना होगा ?

वह कहने लगी—लिखो—प्रियतम, प्राणेश्वर, हृदयेश्वर, तुम्हारी चिट्ठी नहीं आई। क्या तुम अपनी छोटी टेरसा को भूल गये। क्या वह तुम्हारी आँखों की पुतली नहीं है—

आँखों की पुतली से इस लम्बी-चौड़ी स्त्री की तुलना कर मैं अपनी

हँसी न रोक सका। मैंने हँसते हुए उससे पूछा—यह बोलिस्ट कौन है ?

"बोलिस्ट नहीं, बोल्स वह मेरा प्रेमी है।"

"तुम्हारा प्रेमी !"

"हाँ, क्यों इसमें अचरज क्या है ? मेरे समान कन्याओं के क्या प्रेमी नहीं हो सकते।"

कन्या ! चालीस वर्ष पार कर लेने पर भी यह अपने को कन्या ही समझती है। परन्तु मैंने अपने मन के भाव को दबा कर कहा—अचरज क्या है । अच्छा कब से तुम्हारा उससे परिचय हुआ है ?

"छः साल से।"

"छः साल ! खैर, अब आगे कहिए।"

वह चिट्ठी लिखाने लगी और मैं लिखने लगा । चिट्ठी इस तरह लिखी गई कि यदि उसकी लिखानेवाली टेरसा न होती तो मुझे बोल्स बनने में कोई आपत्ति न थी।

चिट्ठी खतम हो जाने पर उसने मुझे धन्यवाद देकर कहा—आपने बड़ी दया की। अगर मेरे लायक कोई काम हो तो बतलाइए। अगर कमीज़ फट गये हों तो लाइए मैं सी दूँ।

उसकी यह घनिष्ठता देखकर मैंने कुछ विरक्त होकर कहा—मुझे कुछ ज़रूरत नहीं है, आप जायँ।

वह चली गई। दो सप्ताह बीत गये। एक दिन शाम को वर्षा के कारण मैं कहीं बाहर नहीं जा सका। खिड़की के पास बैठ कर मैं बाहर का दृश्य देखने लगा और तरह तरह की बातें सोचने लगा। कोई काम करने की तबीयत नहीं होती थी। यह नहीं जान पड़ता था कि समय किस तरह काटूँ । इसी समय दरवाज़ा खुल गया। जी में जी आया। समझा कि कोई दोस्त आया। परन्तु आँख उठाकर देखा तो टेरसा खड़ी है।

टेरसा कहने लगी—तुम कोई काम में तो नहीं लगे हो ?

"नहीं । क्यों ?"

"और एक चिट्ठी लिख दोगे ।"

"क्यों नहीं । उसी बोल्स को तो लिखना होगा ।"

"नहीं ! इस बार बोल्स की ओर से लिखना होगा ?"

"क्या कह रही हो ?"

"बात यह कि यहाँ हमारे एक मित्र हैं । वे अपनी एक प्रेमिका को चिट्ठी लिखाना चाहते हैं । उसका भी नाम टेरसा है । बस, इसी तरह से चिट्ठी लिख दो ।"

मैं उसकी यह बात समझ न सका । बोला—क्या बक रही हो, सब झूठी बातें हैं । तुम्हें छोड़ कर और कौन यहाँ दूसरी टेरसा है ।

यह सुनते ही उसका मुँह सूख गया । उसके दोनों हाथ काँपने लगे । ऐसा जान पड़ा कि वह कुछ कहना चाहती है, पर कुछ नहीं कह सकती । मैं सुनने की प्रतीक्षा में बैठा रहा । परन्तु इतना मैं समझ गया कि मुझसे भूल हो गई । उसकी बातों का कोई गूढ़ मतलब है । परन्तु वह बिना कुछ कहे दरवाज़ा खोलकर बाहर चली गई ।

मुझे कुछ दुःख सा हुआ । यह तो मैंने समझ लिया कि टेरसा को बड़ा दुःख हुआ है । यही सोचकर मैं उसके कमरे की ओर चला । दरवाज़ा खोलने पर देखा कि वह टेबिल के ऊपर दोनों हाथों से मस्तक को पकड़े हुए बैठी है ।

मैंने पास जाकर कहा—सुनती हो ?

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया ।

मैंने फिर कहा—सुनिए तो ।

वह कुर्सी छोड़कर खड़ी हो गई । उसकी दोनों आँखें मानों जल रही थीं । उसने अपने दोनों हाथ मेरे कंधे के ऊपर रख कर कहा—सुनो, मैं इस बार सच बात बतलाती हूँ । बोल्स नाम का कोई आदमी नहीं है और न यहाँ कोई टेरसा ही है । परन्तु इससे तुम्हारी हानि क्या है । काग़ज़ पर दो-चार लाइन लिख देने में कौन सी बुराई है ।

बोल्स नहीं है तो न सही, परन्तु मैं तो हूँ।

उसके इस व्यवहार से मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया। मैंने कहा—यदि यही बात है तो तुम लिखाती क्यों हो? बोल्स तो कोई नहीं है।

"नहीं।"

"टेरसा भी और कोई नहीं है।"

"नहीं।"

तब तो मैं उसकी ओर चुपचाप ताकने लगा, समझा कि यह बिलकुल पागलपन की बात है। टेरसा ने टेबिल से मेरी हाथ की लिखी हुई चिट्ठी निकाल कर मेरे हाथ में दी और कहा कि अपनी चिट्ठी ले जाओ, मैं किसी दूसरे से लिखवा लूँगी।

मैंने चिट्ठी को देखकर कहा—तुम्हारा मतलब क्या है टेरसा, मैं कुछ समझ नहीं सका। चिट्ठी लिख लेने पर भी तुमने इसे भेजी क्यों नहीं?

"किसको भेजती।"

"क्यों, बोल्स को।"

"कह तो दिया कि बोल्स कोई नहीं है।"

तब भी मैं कुछ समझ न सका। टेरसा कहने लगी—नहीं समझ सके! बोल्स कोई नहीं है, परन्तु मैं चाहती हूँ कि कोई ऐसा ही आदमी रहता जो मुझे वैसा ही चाहता। मैंने समझ लिया कि बोल्स है और इसी से मैं उसके पास चिट्ठी लिखवा रही हूँ। तुम्हारा इसमें क्या बिगड़ता है?

तुरन्त सब बातें मेरी समझ में आ गईं। इस कुत्सित नारी को कोई नहीं चाहता, इसी से उसने एक नायक की कल्पना कर ली है और उसी कल्पित नायक से पत्र-व्यवहार कर रही है—मानो बोल्स टेरसा को चिट्ठी लिख रहा है और टेरसा उसका उत्तर लिख देने के लिए मुझसे अनुरोध कर रही है।

टेरसा कहने लगी—अगर तुम चिट्ठी लिख देते तो मैं किसी दूसरे के पास जाकर उसे पढ़ाती और तब मुझे ऐसा जान पड़ता कि मानो स्वयं बोल्स ही अपनी मन की बातें मुझे लिख रहा है। तब फिर मैं उस चिट्ठी का उत्तर लिखाती। इससे कुछ तो जी हलका होता। घड़ी भर इसी कल्पित मोह में रहती कि कोई मेरा भी ख्याल रखता है।

मैं अपनी बुद्धि को धिक्कारने लगा। इतनी छोटी सी बात मैं नहीं समझ सका। प्रेम की आकांक्षा किसे नहीं होती, फिर चाहे वह सत्य हो या कल्पित। उस दिन से मैं बराबर हफ़्ते में दो बार टेरसा के लिए चिट्ठी लिखने लगा। एक चिट्ठी में मैं बोल्स की बातें लिखता और फिर दूसरी चिट्ठी में बोल्स को टेरसा की ओर से लिख कर देता। उस दिन से टेरसा दासी की तरह मेरा काम करने लगी। तीन महीने के बाद किसी अपराध में उसे जेल हो गया और फिर उसकी कोई खबर मुझे नहीं मिली।

हाय, हम लोग कितने निर्बोध हैं, कितने स्वार्थ पर हैं। हम लोग मुख से तो यह कहते हैं कि सभी मनुष्यों के हृदय हैं। परन्तु सभी समय हम इसका ख़याल नहीं करते। दूसरों के साथ व्यवहार करते समय हम यह बात भूल जाते हैं। हम लोग अपने ही सुख-दुःख में लीन रहते हैं।

११—वर-लाभ

यह अपरलोक की कथा है। उससे इस लोक का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह यहाँ से अत्यन्त दूर है; अनन्त आकाश के किसी नक्षत्र-मण्डल में वह स्थित है। वहाँ किसी रमणी के साथ एक पुरुष रहता था। एक डाली में दो फूलों के समान वे दोनों रहा करते थे। उनमें कभी विच्छेद-वियोग नहीं हुआ था। वहाँ एक विस्तृत एवं सघन बन था। सब वृक्ष परस्पर ऐसे मिल गये थे कि उनके बीच थोड़ा भी अन्तर नहीं था; पर वृक्षों में ही यह निबिड-भाव न था। उस बन में

जो कुछ थे सब ऐसे ही मिल गये थे। फूल-फूल में, फल-फल में और पत्तों-पत्तों में भी विच्छेद नहीं था।। जल, पवन और प्रकाश भी बन के उस सुदृढ़ मिलन को भंग कर प्रवेश करने का पथ नहीं पाते थे।

उस बन के बीच एक मन्दिर था। वह कब से था, यह कोई नहीं जानता। मन्दिर में कुछ नहीं था। रात को देवता उसमें आया करते थे। सुनते हैं कि उस समय घोर रात्रि के अन्धकार में किसी को साथ में न लेकर यदि कोई मन्दिर में जाकर देवता की आराधना करे और उसे अपने हृदय का रक्त अर्पण करे तो उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती!

पुरुष और रमणी अनेक बार उस मन्दिर में गये थे; अनेक बार दोनों ने देवता की प्रार्थना की थी, पर अकेला कोई नहीं गया था। किसी पूर्णिमा की रात्रि में, पुरुष को साथ में न लेकर, रमणी अकेली ही मन्दिर की ओर गई। बन के बाहर चन्द्रमा के प्रकाश में सारा संसार हँस सा रहा था। जल, स्थल, आकाश, सब उज्ज्वल थे। सब में केवल शुभ्रता थी। आकाश में नीलिमा नहीं थी, सब आलोकमय था। केवल बन के भीतर घोर अन्धकार था। उस स्थान में ज्योत्स्ना नहीं थी, प्रकाश नहीं था।

रमणी उस घोर अन्धकार में मन्दिर के पास आई और भक्तिभाव से देवता को प्रणाम कर प्रार्थना करने लगी; समय व्यतीत होने लगा। रात बढ़ने लगी, पर कुछ न हुआ। अन्त में रमणी ने अपने मर्मस्थल में आघात किया। धीरे धीरे रक्त बिन्दु-बिन्दु होकर हृदय से बाहर निकल मन्दिर की सीढ़ियों पर गिरने लगा। इस बार शब्द हुआ, 'क्या 'चाहती हो?" रमणी ने कहा, "एक पुरुष है। वह मुझे संसार में सबसे अधिक प्रिय है। आप उसे वर दें।" शब्द हुआ, "कैसा वर?" रमणी ने उत्तर दिया, "यह तो मैं नहीं जानती, प्रभो! पर जिससे उसका सब प्रकार से मंगल हो वह वर दीजिए।" शब्द हुआ, "तथास्तु।"

चिरकाल की आकांक्षा सफल होने के कारण उसके आनन्द की सीमा न रही। इतने आनन्द का उसने अपने जीवन में कभी उपभोग

नहीं किया था। उस आनन्द का भाग पुरुष को देने के लिए वह अधीर हो उठी। धीरे न चल वह उत्कण्ठा से दौड़ने भी लगी। स्थिर वन उसके द्रुतपाद से काँप उठा। स्तब्धता भंग कर शुष्क पत्रों से मर्मर ध्वनि निकली। अन्धकार में उस शब्द को सुनकर रमणी, न जाने क्यों, चकित और भीत हो गई।

शीघ्र ही वन के बाहर आई। बाहर अन्धकार नहीं था। बाहर चद्रज्योत्सना क्रीड़ा कर रही थी। बसन्तकाल की पवन बह रही थी। फूलों की सुगन्धि से सब दिशाएँ पूर्ण थीं। दूर में समुद्र तीर के बालुका के कण ज्योत्स्ना के आलोक में, आकाश के नक्षत्रों के समान, चमक रहे थे। समुद्र तरङ्ग भी अपने अपने अविराम नृत्य में रत थी। आकाश में, पवन में, स्थल पर, सर्वत्र आनन्द की ध्वनि उठने लगी।

रमणी शीघ्रता से चली जा रही थी। उसकी दृष्टि एक बार समुद्र की ओर गई और वह ठहर गई। उसने देखा कि एक नाव समुद्र-तरंगों को भंग करती हुई चली जा रही है। रमणी सोचने लगी, "इतनी रात को देश छोड़कर कौन जा रहा है?" वह उत्सुकता से देखने लगी। प्रकाश मंद होने के कारण यद्यपि वह पहचाना नहीं जा सकता था तथापि रमणी ने शीघ्र ही जान लिया कि वह कौन है। वह मूर्ति उसके हृदय-पटल में अङ्कित थी, वह उसका चिरपरिचित पुरुष था।

नाव धीरे-धीरे दूर होती जा रही थी। इसी समय रमणी ने क्या देखा? देखा कि उस नाव में एक परम सुन्दरी बालिका पुरुष के साथ बैठी हुई है। उसका सुन्दर मुख चन्द्रमा के प्रकाश में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ता था।

रमणी का हृदय चंचल हो उठा। यह पागल के समान दौड़ी। वह ज़रूर रोक लेगी, पुरुष को जाने न देगी! किन्तु सामने समुद्र था, उसकी तरंगों को भेदना असाध्य था। हताश होकर बारम्बार कहने लगी—"लौट आओ, लौट आओ।"

अन्त में, दूसरा उपाय न देखकर रमणी समुद्र में कूद पड़ी। तरंग-प्राचीर को भेदकर वह आगे बढ़ना चाहती थी कि किसी ने उसके कान में कहा, "यह क्या करती हो? तुम यह क्या करती हो?" रमणी ने गद्‌गद कंठ से कहा, "मैं इसके लिये अपने हृदय का रक्त देकर देवता से वर भिक्षा माँग लाई हूँ।" अलक्षित स्वर ने कहा, "अच्छा तो है, वर वह पा भी तो गया।"

रमणी ने पूछा "कौन सा वर?"

अलक्षित स्वर ने कहा "उसका सर्वांङ्गीण मंगल, तुमसे अनन्त विच्छेद।"

रमणी स्तम्भित हो गई।

फिर शब्द हुआ, "क्यों, तुम सुखी तो हो?"

रमणी ने धीरे धीरे कहा, "हाँ सुखी।"

चारों ओर फिर निस्तब्धता फैल गई, सिर्फ समुद्र का चंचल जल रमणी के दोनों चरणों को घेरकर 'छल् छल्' करने लगा।

१२—बच्चा

बच्चे की माँ ने उसके लिये एक सुन्दर पोशाक बनवा दी थी। थी। हलके नीले रंग के मखमल पर जरी का काम किया गया था। मुझे विश्वास है कि ऐसी सुन्दर पोशाक तुमने कभी न देखी होगी। इसलिए तुम अनुमान भी नहीं कर सकते कि वह पोशाक कितनी सुंदर रही होगी। उसमें सोने के बटन लगे थे। जिस दिन वह पोशाक पहन कर बच्चा आइने के पास खड़ा हुआ, उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी बड़ी बहन जिस राजकुमार की कहानी कहा करती है वही राजकुमार सामने आकर खड़ा हो गया है।

बच्चे की यह इच्छा होती थी कि उसके घर के सामने की सड़क पर जो लोग दिन-रात आते-जाते रहते हैं वे उसकी पोशाक देखें। तुम समझ सकते हो कि बच्चा उन्हें सिर्फ पोशाक नहीं दिखाना

चाहता था। किन्तु उस पोशाक के पहननेवाले को भी दिखलाना चाहता था। बच्चा मन ही मन यह सोचा करता था कि वह उस पोशाक को पहन कर किसी अज्ञात अपरिचित देश में चला जा रहा है और चारों ओर लोग खड़े खड़े उसकी पोशाक को देख रहे हैं। उस समय उसे बड़ी ख़ुशी होती थी।

दोपहर में जब सूर्य ख़ूब चमकता था तब बच्चा यह चाहता था कि वह पोशाक को पहनकर रास्ते पर दौड़े, जिससे उसके बटन और जरी ख़ूब चमकें। परन्तु उसकी मा उसे हमेशा वह पोशाक पहनने नहीं देती थी। वह कहती—यह तो तुम्हारे विवाह की पोशाक है, अभी से उसे पहनकर ख़राब कर डालोगे तो विवाह के दिन क्या पहनोगे। बच्चा यह सोचकर ख़ूब ख़ुश होता था कि जब वह पोशाक पहन कर वर बनेगा तब वह सब वरों से अधिक सुन्दर जान पड़ेगा।

बच्चे की मा ने उसके सोने के बटन को पतले नीले काग़ज से ढँक दिया था जिससे उसका रंग न उड़ जाय और बड़ी सावधानी से उसको बच्चे की छोटी आलमारी में बन्द कर रख दिया था। बच्चे को पोशाक पहनने की बड़ी इच्छा होती थी; परन्तु वह अपनी मा की बात को कभी नहीं टालता था। उसकी मा ने कह दिया था कि छोटी बहिन के विवाह में वह यह पोशाक पहनेगा। बच्चा सोचने लगा कि दो महीने में तो बहन का विवाह होगा ही। उस दिन मुझे यह पोशाक पहनने को मिलेगा ही। इसी से वह उस पोशाक को कभी नहीं निकालता था।

एक दिन सोते सोते उसने स्वप्न में देखा कि उसकी पोशाक के बटनों की चमक जाती रही। उनका रंग बिलकुल उड़ गया है। जब उसकी आँखें खुलीं तब वह सोचने लगा, यदि सचमुच उन बटनों का रंग उड़ जाय तो। छोटी बहन के विवाह के दिन उसने पोशाक पहनी थी, परन्तु उसे ऐसा जान पड़ा कि बटन के रंग में पहले की सी चमक नहीं है। विवाह के बाद उसने ख़ुद बड़ी सावधानी से अपनी छोटी आलमारी के भीतर उसको बन्द कर दिया था। बीच में वह पोशाक

को निकाल कर देखा करता था कि वह बिगड़ तो नहीं गई।

एक दिन रात में अचानक बच्चे की नींद खुल गई। वह उठ बैठा। देखा, खिड़की से चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति उसके बिछौने पर पड़ रही है। बच्चा उसी प्रकाश की ओर कुछ देर तक ताकता रहा। ऐसा सुन्दर प्रकाश उसने पहले कभी नहीं देखा था। चारो ओर सब लोग सो रहे थे। परन्तु बच्चे को ज़रा भी डर नहीं हुआ। उसको ऐसा मालूम हुआ कि वह इतने दिनों तक जिस रात की प्रतीक्षा कर रहा था वह रात आ गई। उसके हृदय में एक तरह का आन्दोलन होने लगा। उसने स्पष्ट सुना कि कोई उसके कान में कह रहा है कि पोशाक पहनो। बच्चे के मन में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि पोशाक उसी की है। उस पर किसी का अधिकार नहीं है। यदि वह पोशाक पहन कर खराब कर डालेगा तो भी उसे धमकाने वाला कोई नहीं है। उसने तुरन्त जाकर आलमारी खोली और पोशाक को बाहर निकाला। पहले उसकी मा उसको पोशाक पहनाती थी, परन्तु आज उसने ख़ुद अपने ही हाथों से, बिना किसी की सहायता के, पोशाक पहन ली।

दरवाजा खोल कर बच्चा बाहर आया और अपने घर की फुलवाड़ी में खड़ा हुआ। उसके शरीर पर चन्द्रमा की उज्ज्वल चाँदनी पड़ने लगी। उसकी पोशाक खूब चमकने लगी। उस पर बच्चे की आंखें नहीं ठहरती थीं। इसके बाद वह बड़े बड़े झाड़ों के नीचे चुपचाप खड़ा हो गया। उनके पत्तों से छन कर चन्द्रमा की किरणें आ रही थीं। बच्चे को ऐसा जान पड़ा ये सब पेड़ भी सुन्दर पोशाक पहन कर खड़े हुए हैं। इसके बाद उसकी दृष्टि तालाब की ओर गई। वहां उसने देखा कि छाया सी हो रही है। पहले वह छाया देखकर डर जाता था, परन्तु आज उसे ज़रा भी डर न मालूम हुआ। चारों ओर निस्तब्धता थी, तो भी झींगुर और इसी तरह के कितने ही अज्ञात जंतुओं की आवाज़ सुनाई दे रही थी।

बच्चा चलने लगा। वह लाल सड़क को छोड़ कर छोटे छोटे पौधों और घास के भीतर जाने लगा। काँटे लगने से कभी कभी उसकी पोशाक का कोई कोई भाग फट जाता था। परन्तु आज इसके लिए उसे कुछ भी दुख नहीं हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा कि यह पथ ही उसे न जाने कहाँ लिये जा रहा है। उसको ऐसा मालूम हुआ कि वह घर में जिस राजपुत्र की कहानी सुना करता था उसी की तरह वह भी एक राजपुत्र है। वह भी हाथी पर बैठ कर चला जा रहा है। आज उसका अभिषेक-दिवस है।

चलते चलते वह एक तालाब के किनारे पहुँचा। तालाब में पानी अधिक नहीं था। उसके भीतर घास लगी हुई थी। चन्द्रमा के प्रकाश में पानी ऐसा चमक रहा था कि मानों किसी ने चाँदी गला कर ढाल दिया हो। बच्चा तुरन्त ही तालाब के भीतर घुस गया। पानी घुटने तक आया, फिर कमर तक, फिर कंधे तक पहुँच गया। परन्तु बच्चा ज़रा भी नहीं डरा। वह तालाब को पार कर गया। उसकी पोशाक पर कितने ही छोटे छोटे पत्ते चिपक गये।

बच्चा भीगी हुई पोशाक पहने आगे चलने लगा। उसे न डर था, न तकलीफ थी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि आज उसकी यह आनन्द-यात्रा बन्द होने की नहीं। वह चलता ही रहेगा। कभी नहीं रुकेगा।

इतने में एक बड़ा काला भौंरा आकर उसके मुंह के चारों ओर उड़ने लगा। पहले बच्चा भौंरे से बहुत डरता था। परन्तु आज उसे वह भौंरा साथी की तरह मालूम हुआ। उसे देखकर वह बड़ा खुश हुआ। भौंरा उड़ते उड़ते ओठों पर बैठ गया।

उसी दिन लोगों ने देखा कि बच्चे का मृत शरीर रास्ते पर पड़ा हुआ है। उसकी पोशाक मिट्टी और धूल से सनी हुई है। परन्तु उसके ओंठ पर हँसी की एक ऐसी झलक बनी हुई है जैसी झलक हज़ार बार चूम कर भी बच्चे की मा ने कभी उसके ओंठ पर नहीं देखी थी।